

DAMAGE BOOK

कचहरी की भाषा और लिपि

लेखक—

चंद्रबली पांडे, एम० ए०



नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

आश्विन, १९६६

प्रथम सं० २०००]

[मूल्य ॥२॥)

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182681

UNIVERSAL
LIBRARY

कचहरी की भाषा और लिपि

लेखक —

चंद्रबली पांडे, एम० ए०



नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

प्रकाशक —
नागरीप्रचारिणी मभा, काशी

CHECKED 1950
By SL. & L.

Checked 1965

CHECKED 1950

Checked 1969

मुद्रक —
रामशरणसिंह यादव
वर्णिक प्रेस, साहीबनायक, काशी ।

वक्तव्य

हिंदी ही हिंदुस्तान की राष्ट्रभाषा है, इसमें समझदारों के लिये संदेह की गुंजाइश नहीं। किंतु स्वार्थ या भ्रम के कारण आज इस संबंध में बड़ा बतंगड़ फैलाया जा रहा है और कुछ लोग 'हिंदुस्तानी' के नाम पर उर्दू को राष्ट्रभाषा बनाने का जी तोड़ परिश्रम कर रहे हैं। जनता की भाषा हिंदी को वे कल की जवान समझते हैं और कचहरियों में नागरी लिपि तथा हिंदी भाषा के प्रचलन को किसी विशेष वर्ग के लिये स्वतन्त्र समझते हैं।

लेखक ने इस छोटी सी पुस्तक में बड़ी योग्यता से कचहरियों की भाषा और लिपि के इतिहास का उद्घाटन कर यह भली भाँति सिद्ध कर दिया है कि नागरी लिपि और हिंदी भाषा चिर काल से जनता की लिपि और भाषा समझी जा कर दरबारों और अदालतों में प्रयुक्त होती रही है। आज इस मत्त्य के विरुद्ध प्रचार करना देश के लिये घातक और अंत में अमफल प्रयत्न सिद्ध होगा। हमें विश्वास है, भाषा के प्रश्न को सुलझाने में यह पुस्तक बहुत कुछ सहायता पहुँचाएगी।

नागरीप्रचारिणी सभा, {
काशी। }

रामबहोरी शुक्ल
प्रधान मंत्री

कचहरी की भाषा और लिपि

स्मृतियों और निबंधों में व्यवहार के विषय में जो कुछ कहा गया है उसको ले कर वादविवाद करने का यह अवसर नहीं है । यहां केवल इतना भर जान लेना चाहिए कि पुराने समय में भी हमारे यहां व्यवहार की एक निश्चित और ठोस व्यवस्था थी । मृच्छकटिक नाटक के व्यवहार नामक नवम अङ्क में व्यवहार का जो दृश्य उपस्थित किया गया है वह नित्यप्रति की घटना है, बनावटी या कल्पित कवि की उड़ान नहीं । देखिए, उस समय हमारे यहां व्यवहार की व्यवस्था क्या थी और किस प्रकार की भाषा का उपयोग होता था—

अधिकरणिकः—भद्र शोधनक, बहिर्निष्क्रम्य ज्ञायताम्—‘कः कः कार्यार्थी’ इति ।

शोधनकः—जं अज्जो आणवेदि । (इति निष्क्रम्य) अज्जा, अधिअरणिआ भणन्ति—‘को को इध कज्जत्थी’ ति ।

शकारः—(सहर्षम्) उवत्थिए अधिअलणिए । (साटोपं परिक्रम्य) हग्गे वलपुलिशे मणुरशे वाशुबेवे त्तिट्ठअशाले ला-अशाले कज्जत्थी ।

शोधनकः—(ससंभ्रमम्) हीमादिके, पढमं ज्जेव रट्टिअसालो कज्जत्थी, भोदु । अज्ज, मुहुत्तं चिट्ठ । दाव अधिअरणिआणं णिवेदेमि । (उपगम्य) अज्जा, एसो क्खु रट्टिअसालो कज्जत्थी ववहारं उवत्थिदो ।

अधिकरणिकः—कथम् प्रथममेव राष्ट्रियशालः कार्यार्थी । यथा सूर्योदय उपरागो महापुरुषनिपातमेव कथयति । शोधनक, व्याकुलेनाद्य व्यवहारेण भवितव्यम् । भद्र, निष्क्रम्योच्यताम्—‘गच्छाद्य । न दृश्यते तव व्यवहारः’ इति ।

शोधनकः—जं अज्जो आणवेदि त्ति । (निष्क्रम्य शकारमुपगम्य) अज्ज, अधिअरणिआ भणन्ति—‘अज्ज गच्छ । ए दीशदि तव ववहारो’ ।

शकारः—(सक्रोधम्) आः, किं ए दीशदि मम ववहाले । जइ ए दीशदि, तदो आवुत्तं लाआणं पालग्गं बहिणीवदिं विराणाविअबहिणिं अत्तिकं च विराणाविअ एदं अधिअलणिअं दूले फेलिअ एत्थ अराणं अधिअलणिअं ठावइशम् । (इति गन्तुमिच्छति)

शोधनकः—अज्ज रट्टिअशालअ, मुहुत्तअं चिट्ठ । जाव अधिअलणिआणं णिवेदेमि । (अधिकरणकमुपगम्य) एसो रट्टिअशालो कुविदो भणादि । (इति तदुक्तं भणति)

अधिकरणिकः—सर्वमस्य मूर्खस्य संभाव्यते । भद्र, उच्यताम्—‘आगच्छ, दृश्यते तव व्यवहारः ।’

शोधनकः—(शकारमुपगम्य) अज्ज, अधिअरणिआ भण

न्ति—‘आअच्छ । दीसदि, तव ववहारो । ता पविसदु अज्जो ।

शकारः—पढमं भणन्ति ए दीशदि, संपदं दीशदि त्ति । ता
णाम भीदभीदा अधिअलणभोइआ । जेत्तिअं हग्गे भणिश्शम
तेत्तिअं पट्ठिआवइश्शम् । भोदु । पविशामि । (प्रविश्योपसृत्य)
शुशुहं अम्हाणम्, तुम्हाणं पि शुहं देमि ए देमि अ ।

अधिकरणिकः—(स्वगतम्) अहो, स्थिरसंस्कारता व्यव-
हारार्थिनः । (प्रकाशम्) उपविश्यताम् ।

शकारः—आं, अत्तणकेलका शे भूमी । ता जहिं मे रोअदि
तहिं उपविशामि । (श्रेष्ठिनं प्रति) एशे उवविशामि । (शोधनकं
प्रति) सां एत्थ उवविशामि । (इत्याधिकरणिकमस्तके हस्तं दत्त्वा)
एशे उवविशामि । (इति भूमावुपविशति)

अधिकरणिकः—भवान् कार्यार्थी ।

शकारः—अध इं ।

अधिकरणिकः—तत् कार्यं कथय ।

शकारः—कराणे कज्जं कधइश्शम् । एव्वं बड्ढके मल्लक्क-
पमाणाहकुले हग्गे जादे ।

लाअशशुले मम पिदा लाआ तादश्श होइ जामादा ।

लाअशिआले हग्गे ममावि बहिणीवदी लाआ ॥

अधिकरणिकः—सर्वं ज्ञायते ।

किं कुलेनोपदिष्टेन शीलमेवात्र कारणम् ।

भवन्ति नितरां स्फीताः सुक्षेत्रे कण्टकिद्रुमाः ॥

तदुच्यतां कार्यम् ।

शकारः—एवं भणामि, अबलद्धाह वि ण अ मे किं पि कलइशदि, तदो तेण बहिणीवदिणा परितुश्टेण मे कील्लिदुं लक्खिदुं शब्बुज्जाणाणं पबले पुप्फकलण्ड कज्जिणुज्जाणे दिण्णे । तहिं च पेक्खिदुं अणुदिअहं शोशावेदुं शोधावेदुं पोत्थावेदुं लूणावेदुं गच्छामि । देव्वजोएण पेक्खामि, ण पेक्खामि वा, इत्थिआशलीलं णिवडिदम् ।

अधिकरणिकः—अथ ज्ञायते का स्त्री विपन्नेति ।

शकारः—हंहो अधिअलणभोइआ, किंत्तिण जाणामि । तं तादिशिं णअलमराडसां कअणशदभूशणिअं । केण विक्कुपुत्तेण अत्थकल्लवत्तश कालणादो शुणं पुप्फकलण्डकजिराणु ज्जाणं पवेशिअ बाहुपाशबलक्कालेण वशन्तशेणिआ मालिदा, ण मए । (इत्यर्थोक्ते मुखमावृणोति)

अधिकरणिकः—अहो नगररक्षिणां प्रमादः । भोः श्रेष्ठिका-यस्थौ, न मयेति व्यवहारपदं प्रथमभिलिख्यताम् ।

कायस्थः—जं अज्जो आणवेदि । (तथा कृत्वा) अज्ज, लिहिदम् ।

शकारः—(स्वगतम्) हीमादिके । उत्तलाअन्तेण विअ पाअशपिराडालकेण अज्ज मए अत्ता एव्व णिण्णाशिदो । भोदु । एवं दाव (प्रकाशम्) अहो अधिअलणभोइआ, णं भणामि, मए ज्जेव दिट्ठा । किंकोलाहलं कलेध । (इति पादेन लिखितं प्रोञ्छति)

अधिकरणिकः—कथं त्वया ज्ञातं यथा स्वत्वर्थनिमित्तं बाहु-

पाशेन व्यापादिता ।

शकारः—हंहो, गूणं शूनशूणाए मोघट्टाणाए गीबलिआए
गियुवण्णकेहिं आहलणट्टाणेहिं तक्केमि ।

श्रेष्ठिकायस्थौ—जुज्जदि विअ ।

शकारः—(स्वगतम्) दिशिट्ठा पच्चुज्जीविदम्हि । अविद-
मादिके ।

श्रेष्ठिकायस्थौ—भो, कं एसो ववहारो अवलंबदि ।

अधिकरणिकः—इह हि द्विविधो व्यवहारः ।

श्रेष्ठिकायस्थौ—केरिमो ।

अधिकरणिकः—वाक्यानुसारेण, अर्थानुसारेण च । यस्ता-
वद्वाक्यानुसारेण, सखल्वर्थिप्रत्यर्थिभ्यः । यश्चार्थानुसारेण स
चाधिकरणिकबुद्धिनिष्पाद्यः ।

श्रेष्ठिकायस्थौ—ता वसन्तसेणामादरं अवलम्बदि ववहारो ।

अधिकरणिकः—एवमिदम् । भद्र शोधनक, वसन्तसेनामात-
रमनुद्वेजयन्नाह्वय ।

विचारशील व्यक्तियों से अब यह कहने की आवश्यकता न
रही कि प्राचीन भारत में व्यवहार की एक निश्चित और ठोस
व्यवस्था थी । इनमें से 'अधिकरणिक', 'कायस्थ' और 'शोधनक'
तो आज भी प्रायः इसी रूप में कचहरियों में दिखाई देते हैं । हाँ
उनमें 'श्रेष्ठि' का अभाव अवश्य होता है । पर कभी कभी 'जूरी'
के रूप में 'श्रेष्ठि' साहब भी दिखाई पड़ जाते हैं, किन्तु आज वे
व्यवहार के एक आवश्यक अंग नहीं रहे । कहने का तात्पर्य यह

कि भारत में इस्लाम के जमने के बहुत पहले से ही हमारे राष्ट्र में व्यवहार की एक निश्चित परिपाटी फलफूल रही थी और अपनी सुखद छाया से सब को मनभाई शांति देती थी । मुसलिम शासन की लपेट में आ जाने से उसके विधान में जो परिवर्तन हुए उनके विवेचन की आवश्यकता नहीं । हां, यहां इतना अवश्य जान लेना है कि उस समय हमारी भाषा की क्या अवस्था थी और किस प्रकार वह व्यवहार में आती थी ।

मृच्छकटिक से जो अवतरण ऊपर दिया गया है उसमें कई भाषाओं का प्रयोग हुआ है । अधिकरणिक की भाषा संस्कृत है । संस्कृत ही उस समय की राजभाषा है । इस राजभाषा की विशेषता यह है कि सभी लोग इसे समझ लेते हैं । फिर भी राज्य का सामान्य कार्य इसमें नहीं होता । यही कारण है कि अधिकरण के सामान्य कर्मचारी 'कायस्थ' और 'शोधनक' की भाषा संस्कृत नहीं प्रत्युत शौरसेनी है । शौरसेनी ही उस समय की चलित राष्ट्रभाषा है । वही संस्कृत की सच्ची सन्तान और सगी है । राजवर्ग के अतिरिक्त अधिकरण के 'कार्य' वर्ग की भी एक भाषा है जो और कुछ नहीं केवल वक्ता की भाषा है । वह कभी देशभाषा, कभी राष्ट्रभाषा और कभी राजभाषा के रूप में अधिकरण में सुनाई पड़ती है । उसका व्यवहार वक्ता की शक्ति और सामर्थ्य पर निर्भर है । अतः हम देखते हैं कि 'शकार' मागधी का प्रयोग करता है । सारांश यह कि उस समय अधिकरण में तीन प्रकार की भाषाएँ चलती थीं जिन्हें

हम क्रम से राजभाषा, राष्ट्रभाषा तथा लोक या देशभाषा के रूप में पाते हैं ।

राष्ट्रभाषा के संबंध में याद रखने की बात यह है कि उस समय उसके दो रूप प्रचलित थे । शिष्ट राष्ट्रभाषा तो वही संस्कृत थी जिसे हम राजभाषा के रूप में देख चुके हैं । अधिकरण में शिष्ट लोग उसी का प्रयोग करते थे । जो लोग संस्कृत भाषण में प्रवीण न थे वे चलित राष्ट्रभाषा अर्थात् शौरसेनी का प्रयोग करते थे ।

देश में इसलाम के जम जाने से राजभाषा संस्कृत पर भारी विपदा पड़ी । उसकी जगह फारसी को मिल गई । फारसी देश की राजभाषा हो गई और संस्कृत केवल भारतीय शिष्टों की शिष्ट भाषा रह गई । फिर भी मुसलिम शासकों ने सर्वथा उसकी उपेक्षा न की प्रत्युत अपनी राजमुद्राओं पर उसे भी स्थान दिया और महमूद गजनवी से धर्मांध कट्टर मुसलिम शासक ने अपने सिक्कों पर लिखवाया—

“अव्यक्तमेकं मुहम्मद अवतारऽनृपति महमूद” तथा

“अयंदंकं महमूदपुर घटिते हिजिरियेन संवति ४१८ ।”

(विशाल भारत, जुलाई, सन् १९३५ ई० पृ० ६८, ६९)

अस्तु, महमूद गजनवी ने जिस वाणी और जिस लिपि का उपयोग अपने उक्त सिक्कों में किया है वह अवश्य ही उस समय की चलित या मानुषी संस्कृत तथा नागरी लिपि है । उसे शिष्ट संस्कृत के साथ मिला कर देखना ठीक नहीं । वह जनता की संस्कृत-वाणी है कुछ पंडितों या वैयाकरणों की शिष्टभाषा नहीं ।

महमूद गजनवी के बाद भी सिक्कों पर संस्कृत की भलक बराबर बनी रही और बाद के सिक्कों पर 'श्री' तथा 'हमीर' के साथ विसर्ग का विधान होता रहा। यदि शुद्ध 'भाषादृष्टि' रहती तो कभी 'श्रीः' तथा 'हमीरः' नहीं लिखा जाता। जो हो आगे चल कर फारसी के अधिक प्रभाव में आने और कुछ कुछ हिंदी जनता के भी अपना लेने से देवनागरी लिपि तथा देववाणी का सिक्कों में सर्वथा परित्याग हो गया और संस्कृत का महत्त्व जाता रहा।

फारसी ने राजभाषा का आसन ग्रहण किया। राजवर्ग की भाषा होने के कारण उसका प्रचार बढ़ा। पर कभी वह भारत की राष्ट्रभाषा न बन सकी। बनती भी कैसे? आखिर उसको अपना-ने के लिये कितने लोग उत्सुक थे और कहां तक उसमें बातचीत करने के लिये अभ्यस्त थे। सिकन्दर लोदी के समय में (स० १५१७ ई०) तो फारसी की दशा यह थी—

“जब सुल्तानको नौकरी के लिये फारसीखवाँ हिन्दुओं की जरूरत हुई तो उसने फरमाया—

कुदाम हिन्दू बच्चः

ईस्त कि फारसी मी दानद ?

“जवाब मिला कि कोई नहीं। तो अब्बल उसने बरहमनों को बुलाकर फारसी पढ़ने की दरखवास्त की। बरहमनों ने यह अर्ज किया कि महाराज हमको अपने धरम-करम-विद्या से कहां फुरसत है जो फारसी पढ़ें। फिर छत्रियों से यही कहा गया तो उन्होंने

कहा कि हम अह्ने सैफ हैं अह्ने कलम बनना नहीं चाहते । फिर वैश से यही कहा । उन्होंने कहा कि हम तिजारतपेशः हैं । अपने पेशे को छोड़ कर दूसरा पेशः क्योंकिर अखितयार कर सकते हैं । फिर शूद्रों में से कायतों से जो पहले से संस्कृत की लिखाई की उजरत से औकात बसर करते थे यह कहा, तो उन्होंने बसर व चश्म कबूल किया । अपने हाकिमों की जबाँदानी के सबब मुसलमानों के अहद में उनका पहले से ज्यादा उरुज हो गया ।”
(तारीख नख उर्दू पृ० २०६ पर अवतरित)

मतलब यह कि अब फारसी की कृपा से मृच्छकटिक के कायस्थ जो ‘कायत’ साहब बन गए और उसी तरह अदालत में शाय बटाने लगे जैसे पहले कभी, अधिकरण में बटाया करते थे ।

सुल्तान सिकन्दर लोदी की अनुकम्पा से हिन्दुओं को फारसी गढ़ने का खयल हुआ और कायस्थ लोग ‘शीन’ ‘काफ’ की दुरुस्ती में लीन हुए । पर शेष जनता का अभी उससे कोई खास तगाव न था । उसके सारे कामकाज ‘भाषा’ में ही होते थे । निज-व्यापार भी ‘भाषा’ में ही चलता था । फारसी सिर्फ राजबर्ग की भाषा थी । शाही फरमान उसी में निकलते थे पर राजा के शेष काम ‘भाषा’ में ही होते थे । सरकार भी ‘भाषा’ के महत्त्व को समझती थी और उसको फूलने-फलने का पूरा मौका देती थी ।

अच्छा होगा , उस समय का एक शाही ‘इश्तिहार’ देख लिया जाय—

“सिद्धि: संवत् १५७० सतरा वर्षे माघ बदी १३ सोमे दिने महाराजा धिराज राज श्री सुलितान महमूदसाहि राज्ये अस्सै दमौव नगरे श्री महाषाण आजम मलूषां विण मलूषां मुक्ते वर्तते तत्तमये दाम विजाई व मण्डवा व दाई व दरजी ऐ रकमौ जु दमड़ा लागते मीजी व वहदाराण हरबेरिस सालीना ले तो मुमाफिकि ऐ छोड़े जु कोई इस बरिस व इस देश थी इन्ह मह लेहि दमड़ा पैका मांगे लेई सु अपण दीण थी बेजाढ़ होइ मुसलमान होइ दमड़ा लेइ तिसहि सुवर की सौंहा हिन्दू होइ लेइ तिसहि गाईकी सौंहा प्रवानगी मलिक सेषण हसनषां निरब-दाछछ मौ कोठवाल् सोनिपहजू पलनचिपुरवारे शुभं भवतु ।” (एपिग्राफिया इण्डिका जि० १५ पृष्ठ० २९३ से ना० प्र० पत्रिका भाग ६—संवत् १९८२ पृ० ८ पर उद्धृत)

ठीक इसी समय का एक दूसरा स्वतंत्र उदाहरण लीजिए । एक सती की समाधि पर अंकित है कि—

“सिद्धि संवत् १५७० वर्षे त्रिषभ नाम संवत्सरे कातिक सुदि ६ गुरौ स्वस्ति श्रीगढ़ गौरि त्रिपय दुर्गे महाराज श्रीराजा आमण दासदेव तेकै वर्त्तमाणै स्वस्ति श्री जुम्हार साह ठाकुर माधव दास के ब्राह्मण पं०देव बम्हरौधिया के जेठोहो पुत्र परोखी भौ ते की महा सती । तेको गातो लिख्यते तेकी दिसा कौ यह महेस की स्थापणा तथा अमराई ठरक । ग्रामु भगतदास गातौ उकीरेउछीत सिंह राज । (ना० प्र० पत्रिका, वही, पृ० ५ पर उद्धृत)

उक्त अवतरणों के विषय में स्वर्गीय डाक्टर हीरालाल का

निष्कर्ष है कि

“यद्यपि यह इश्तिहार मुसलमानी जमाने में उसी कौम के अफसर के द्वारा निकाला गया था, तथापि, उसके नाक और पूछ संस्कृत ही की लगाई गई। लेख की भाषा खिचड़ी है और उसमें गुजराती की बू भरी है। जान पड़ता है कि इसका रचयिता कोई तत्कालीन अधिकारी खेड़ावाल ब्राह्मण था। दमोह में इनकी अधिकता है और यही लोग विशेष धनाढ्य और पढ़े लिखे हैं। जिस साल यद् इश्तिहार जारी किया गया, उसी साल एक सती दमोह जिले के ठर का गांव में हुई थी। जिसके चीरे के लेख की नकल ऊपर पृ० ५ के फुटनोट में दी जा चुकी है। इन दोनों के पढ़ने से सर्वसाधारण की बोलचाल की भाषा और सरकारी दफ्तरों की भाषा का अन्तर तुरंत दिखाई पड़ेगा। यद्यपि इश्तिहार की भाषा गुजराती मिश्रण से कुछ दूषित हो गई है।” (ना० प्र० पत्रिका, वही, पृ० ९)

हम यहां भाषा की गुत्थियों में उलझना नहीं चाहते, पर प्रसंगवश इतना निवेदन कर देना उचित समझते हैं कि सरकारी दफ्तरों की भाषा में राजभाषा का पुट अधिक होता है और फलतः वह लोकभाषा से कुछ दूर की भाषा होती है। कदाचित् यही कारण है कि आगे चल कर ‘हिंदुस्तानी’ धीरे धीरे हिंदी से भिन्न एक अलग सरकारी जवान हो गई और बाद में उर्दू का अर्थ देने लगी नहीं तो आरंभ में हिंदुस्तानी का अर्थ हिंदी ही था, जैसा कि उसके नाम से ही प्रकट है। जो हो, भाग्यवश

भारत में 'अकबर' का उदय हुआ। उसकी माया से आसमानी किताब को दुनियावी दिल ने दबा लिया। उसकी नीति ने वह कर दिखाया जो आज तक किसी भी बन्दे से न बन पड़ा। राजपूत दरबारी बनने के लिये लालायित हो उठे। ब्राह्मण 'रत्न' के रूप में सामने आने लगे। फिर खत्री कब चूकने वाले थे? राजा टोडरमल कुछ और भी आगे बढ़ निकले और फारसी को दरबार से लेकर दफ्तर तक बिछा दिया। सर्वत्र फारसी का बोलबाला हो गया। लोग शौक से फारसी सीखने लगे। देखते ही देखते वह भारत की शिष्ट भाषा बन गई। सभी ओर से उसका सत्कार होने लगा। फिर भी अकबर के शासन में 'भाषा' का महत्त्व कम नहीं हुआ बल्कि स्वयं अकबर के अपना लेने से उसकी प्रतिष्ठा और भी बढ़ गई, वह सचमुच भारत की राष्ट्रभाषा बन गई। दक्षिण के बहमनी राज्य में उसे दफ्तर में भी जगह मिली और हिंदी हिंद की भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो गई।

अकबर के बाद भी 'भाषा' राजकाज में चलती रही। मच बात तो यह है कि प्रजा ने कभी भी 'भाषा' का पिंड न छोड़ा। वह प्रतिदिन उसे पुचकारती रही और अपने भावों तथा विचारों से उसके भांडार को भरने में कभी तनिक भी कोर, कसर न की। उसके काम-काज, लेन-देन, वनिज-व्यापार आदि की भाषा वही 'भाषा' थी। फारसी की जरूरत तो तब नजर आती थी जब हुजूर के फरमान निकलते थे, या हुजूर से किसी खास

रहम की हाजत होती थी ।

फारसी के साथ ही साथ 'भाषा' भी चलती रही, इसका कुछ पता तो गोस्वामी तुलसीदास के पंचनामे से ही चल जाता है । पंचनामे में संस्कृत, फारसी और 'भाषा' तीनों का विधान है । संस्कृत का प्रयोग तो मंगलार्थ किया गया है । किसी भी मंगल-कार्य का आरंभ बिना किसी देववाणी के मंगलाचरण के कैसे हो सकता है ? अतएव आरंभ में संस्कृत का प्रयोग साधु और सनातन है । परमात्मा के अनंतर राजा की दुहाई है । किसी भी समझौते के लिये राजा की संमति अनिवार्य है । बिना राज-संमति के समझौते का महत्त्व मनमाना ही है । इसलिये पंचनामे में फारसी भी राजभाषा के रूप में विराजमान है । फारसी अरबी को पुनीत या देववाणी समझती है । इसलिये उसके साथ 'अल्लाहो अकबर' भी लगा है ।

अब पंचनामे के 'भाषा' भाग पर विचार कीजिए । उसमें संस्कृत की छाया साफ नजर आ रही है । मुंशी जी ने उसे परंपरागत परिपाटी के अनुसार लिखा है । बनारसी बोली के बीच बीच में अवधी का रूप दिखाई दे जाता है । कारण प्रत्यक्ष है । अवधी शिष्ट अथवा ठेठ पूर्वीय हिंदुस्तान की राष्ट्रभाषा थी, आज भी ठेठ पूर्वीय हिंदुस्तानी, विशेषतः मुसलमान स्थानीय बोली के अतिरिक्त अवधी का प्रयोग करते हैं । निदान मानना पड़ता है कि 'आग्या' माँगा और 'प्रमान माना' आदि इसी अवधी की व्यापकता के प्रसाद हैं ।

पंचनामे में जिस टोडरमल का उल्लेख है उन्हीं के वंश का एक दूसरा प्रमाण लीजिए और देखिए कि उस समय कैसी मिलीजुली भाषा में राजकाज होता था और किस तरह कागद-पत्र लिखे जाते थे । उसका हिंदी अंश है—

“शंवत १७४० समें फागुन सुदी ९ तमुमी (१) पुरुषक (१) करै बीकरै करै करता महाराज रघुनाथ सुत बीसेसर दास का पोता बीकरै करता सुरजन शाही कन्हई सुत रामभदर का पोता बा राजसाही आनंदराम सुत टोडरमल का पोता वा राम-परसाद मचूकर का बेटा रामदास का पोता वा सुमेरा जुझारा का बेटा आजोचा का पोता दारुल अदालती बलदै महमदाबाद उर्फ बनारस मौं हाजीर होई कैकैबयान किया की एक कीता जमीन जो तूल पछीव वा पुरुब लाठा बीस २० वा अरज उत्तर दखीन लाठा २० तीशका मोकमर बीगहा एक १ तीशकी हद-हदूद का बेवरा मेजीब तपसील ।

पुरुब मोतसील पछीव मोतसी उत्तर मोतसील दखीन मोत जीमीन बाग कुल बाग नरह-जीमीन मया सील तालाला लहेरा जदू रीगंधी मसहूर वोगैरह सुखाई व रेटा भंटा का बेटा ।

मौजे रेटा भंटा मामुला परगने हवेली महमदाबाद उर्फ बनारस की रकबामें इसके कीसमती बीरादरी हमारे हीशामों हुआ अब ताई हमारे कबुज तसरुफ मौं था पहीले इसकें महाराज मजकूर ने हमारी रजामंदी शो बारह दरखत आवैली वा दस दरखत आवला वा सात दरखत आवा वा चारी

दरखत लीबु वो ही जामीन मजकूर में बैठावा वो ही पर काबीज था अब महाराज मजकूर ने खरीदारी बोही जीमीन की कीया तब बोही जीमीन का मोल करावा मोल भा रजावमंदी तरफएन रुपैया ५३) मोकरर भा तब हाजीर कोआ भगवती सीवदत्त का बेटा रामदास का पोता वा बीकरम भरथ का, बेटा कबला का पोता एहौ गुआही दीया तब सुरजन साही वा राजसाही वा रामपरसाद वा सुमेरा मजकूर इकरार शरई किआ की जीमीन मजकूर वा अमला फएला शुधा रुपैया तीरपन ५३) शीका आलमगीरी वो तन पूरा पर महाराज मजकूर के हाथ बुड़ा बुड़ा (१) कै बेचा बेचा रुपैया मजकूर महाराज सो लेईकै आपने हीशा मोजीब हरीक दाम का बीज मो तसरफ भए चौः सुरजन शाही १३॥ राजसाही १३॥ रामपरसाद १५॥=)॥ सुमेरा मजकूर १०॥-॥ जीमीन मजकूरपर महाराजको काबीज मोतमरफ काया कोई दावागीर पैदा होई तौ बेचवैया जवाब करै ताः ६ माह रबील औली सन १०९५.....” (ना० प्र० पात्रका पृ० ११९—२१ सन् १८९८ ई०)

औरंगजेब जैसे कट्टर मुसलिम शासक के शासन में भी राष्ट्र-भाषा हिंदी किस प्रकार राजभाषा फारसी के साथ साथ चलती रही इसकी एक झलक मिल गई । अब इतना याद रखें कि—

“वाक़्तः यह है कि मुसलमान बादशाह हमेशः एक हिन्दी सिक्रेटरी जो हिन्दी-नवीस कहलाता था और एक फ़ारसी सिक्रेटरी जिसको बह फ़ारसी-नवीस कहते थे रखा करते थे

ताकि उनके एहकाम इन दोनों जबानों में लिखे जायं ।” (गार्सा द तासी वही पृ० १८)

भूमिका के रूप में इतना निवेदन कर देने के उपरांत अब हमें देखना यह है कि हमारी उदार अंगरेजी सरकार ने हमारी भाषा के लिये क्या किया, और किस प्रकार उसके उत्कर्ष में अपना हाथ बटाती रही, अथवा किसी कारण विशेष या पेच में पड़ कर अपने सन्मार्ग से विचलित होती रही ।

अंगरेजी सरकार के राज्य में भी हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि कायस्थ लोग जिस हिंदुई का प्रयोग करते हैं वह कभी उर्दू न थी । हाँ, कहीं कहीं राजभाषा के नाते उसमें फारसी की छाप अवश्य है । प्रमाण के लिये एक संवत् १८३८ का लेख लीजिए । लेख खांडित होने पर भी महत्त्वपूर्ण है और कचहरी के भाषा का एक जीता जागता दर्पण है । वह है

“आती आवदीच बीज हजूर बंदगान साहेब बाला मुनाकी व...कमं साहेब बहादुर के पास अरज इस मजमून की गुजराना कि सदाशिव.....अवदीच के तीन बेटी थी एक हमको दूसरी मंगल जी को तीसरी सदाशंकर..... कुछ दिन बीते जोशी मजकूर मुए वोन्हके माल मताह अब मिलिकीअत वोन्ह की काबिज रही जोशी मजकूर बरंभ करम में जोग थे बहुत राजा... वोन्हके थे जोशी मजकूर के बेटा न था इस वास्ते वोन्हकी इशत्रीने.....को गद्दी का मालिक किया अब तमाम माल अमवाल अपना तीन तीन बेटियों के.....पत्र हिंदुई मो लिख

दीआ हम भांसो में ओ सदाशंकर बिकानेर मों थे इसमें जो... इसत्री का काशीलाभ भआ पीछे महीना एकःके हम भी बनारसी मों आईःके सदाशं...उहां सो बुलाआ । तीनौ जने एकट्ठा होइके तमाम माल अमवाल अपने ससुरका मा.....खने सासके हिस्साकर लीआ औ हम जानशीन गादी के हुए अब आपुस मों रजावं...खाई लीआ वो लिख दीआ जो जिमीन वा गांव राजा वा जिमीदारों ने न...था वो भी माफिक हीसे के राजोने बाँट दीआ कुछ दीन बीते.....एक वली वो एक बेटा छोड़ीकै काशी पावा औ बेटा भी तीन महीना पीछू मुआ सदाशंकर वो मंगल जी भगरा करते हैं कि वरीसा इसत्री का तुमको नहीं पहुँचता इस वास्ते मैं...मेदवार हउ कि वोन्हों को हजूर मों बुलाई कै अदालती के रह इन्साफ होइ तब हुकुम...है लाला चम्पतराय नायब अमानत औ अदालती के सादि। हुआ कि वोन्ह को...में हाजिर करो बमोजिब हुकुम के मुदई औ मुदाले हजूरमें हाजिर होइके मुकाबीला कीआ सदाशंकर औ मंगलजी ने जाहीर किआ कि जोरु सुखदेवजी की मुई अब वरीसा का शात्र की रुई सुखदेव जी को नहीं पहुँचता तब साहेबने लाला मौसूफ को हुकुम दीआ कि दूनौ—चलक लिखाई के पंडितों से तहकीक करो कि वरीसा उसका वोन्हों कै पहुँचता है इया सुखदेवजी को पहुँचता है दुनों कचहरी मों हाजिर होइ कै मुचलका लिख कै दादम भट भीखम भट वा नान्हा पाठक वो कीरपानाथ देव पंडितों के पास रुजु भये मुसारन अलैहों ने इकीकत अपनी पंडीतों सो

जाहीर कीआ पंडीतों ने जवाब दीआ तुमारी सास ने जीअवे अपने हीसा फैसला कीआ अब तुमने आपुस में फारकती कीआ दावा सदाशंकर वा मंगल जी के जोरू का सुखदेव जी के इसत्री के हक पर कुछ नहीं पहुँचता आखिरश साहब वा..... मुनाकिब के हजुर मजलीस हुआ पंडीतों ने दलील शासत्र की गुजराना जो सुखदेव जी.....के हक पर सदाशंकर वा मंगल जी के इसत्री का कुछ दावा नहीं पहुँच.....ने जाहीर कीआ कि हमको नहीं पहुँचता तो हम वकील सुखदेव जी की बेटी के हैं— इ वरीसा मां को बेटी को पहुँचता है सुखदेव को नहीं पहुँचता इअ बात सुन कै साहब ने पंडि.....फरमाआ कि मसला इसका शासत्र के रोही दरोइयाफ्त करके हजूर मो अरज करो इस...साहेब वाला मुनाकीब नवाब गौवरनर बाहादुर इस तकबाल को गये इअ मुकद...चहरी मो सीपुरद रहा तब चारों पंडीतों ने कचहरी मो जाहिर कीआ कि मसला इसका दोनों ने आगे लांखाआहे, उसमें मोफमील लीखा है सो लेइ आवो मुकाबीला में.....के औ पंडीतों के इजहार मालूम हुआ कि आगे सदाशंकर औ मंगल जी ने इजहार.....जमा पंडीतों के आगे कीआ था शासत्र के रोह वरीसा मां की बेटी को पहुँचता है जौ बेटी नई तौ बेटा मालिक है तब सुखदेव जी ने मोफसील हकीकत बआन कीआ औ मसल हा पंडीतों ने जवाब उसका शासत्र सो निकाली कै लीख दिआ कि शासत्र का कऊ...की बेटे होते जो कुछ माता ने अपने बापके घर सो

बीआह के दीन पाआ होइ सो पाबै अउर माल सभ बेटा का है मगर कीछु हीसा बेटी का भी बशरत कुमारी के पहुचता है जौ बीआही होइ तौ हक तवाजा के पाबै तवाजा खुसी मो है जबरदसती सो नाहो है...सो मुखदेव जी ने अपने बेटी का अपने इसत्री के जीवते बीआह कर दिआ है इस सुरतमें माफिक दलील पंडातों के वरीसा मां का बेटे को पहुंचता है बेटे के मरने पीछु बेटे का वरीसा बाप को पहुंचता है पंडीतों ने इअह बात शासत्र रोह सो तहकीक कै कै कहा ता: १५ साबान सन ११९५ हाजरी मोताबोक सन २३ जलुसी संवत १८३८ मीती भादौ बदी २ दसखत गीरधारी लाल काएथ गुमासते गानुनगो” [श्रीमन्नूलाल पुस्तकालय (गया) के संस्थापक श्रीसूर्यप्रसाद महाजन की कृपा से प्राप्त एक पांडुलिपि की प्रतिलिपि । प्रतिलिपि उक्त पुस्तकालय के पुस्तकाध्यक्ष ने की है ।]

अब अंग्रेजी सरकार की भाषा-नीति को अच्छी तरह समझने के लिये कुछ उस जवान का हाल भी जान लेना चाहिए जो उर्दू नाम से चल निकली है और आज बहुत कुछ सरकार को मामूली अदालती जवान भी हो गई है । उर्दू के विषय में बराबर यह ध्यान रखना चाहिए कि—

“खुशबयानान आजा मुत्ताफ़क़ शुदः अज़ ज़बानहाय मुतद्दिद अल्फ़ाज़ दिलचस्प जुदा नमूदः व दर बाज़े इबारात व अल्फ़ाज़ तसरूफ़ बकारबुदः ज़बाने ताज़ सिबाय ज़बानहाय दीगर बहम रसानीदंद व बउर्दू मौसूम साख़तंद ।”

अर्थात्—

शाहजहानाबाद में खुशबयान लोगों ने एकमत होकर अन्य अनेक भाषाओं से दिलचस्प शब्दों को जुदा किया, कुछ शब्दों तथा वाक्यों में हेर-फेर करके दूसरी भाषाओं से भिन्न एक अलग नई भाषा ईजाद की और उसका नाम उर्दू रख दिया । (दरिया-ए लताफत रचनाकाल सन् १८०७ ई०)

सैयद इंशा (मृ० सन् १८१७ ई०) ने इस तरह साफ साफ कहा दिया कि उर्दू की हकीकत क्या है और किस तरह वह एक कल की बनावटी ताज-जबान है । इस ताज-जबान की जरूरत क्यों पड़ी और क्योंकि उसने इस मुल्क की मुल्की जबान के रूप में सरकारी दफ्तरों में दाखिल हो वहाँ से भी भाषा को खदेड़ना चाहा आदि प्रश्नों पर विचार करना तो दूर रहा, उलटे सर जार्ज ग्रियर्सन प्रभृति विद्वानों ने न जाने किस आधार और किस वृत्ते पर घोषणा की कि उर्दू मुगल सामंतों के कारण देश-विदेश में फैली और लश्कर[॥] में भिन्न भिन्न

[॥] कहा जाता है कि वस्तुतः उर्दू मंगोल भाषा का शब्द है । तुर्की भाषा में इसका अर्थ होता है लश्कर । उर्दू के इस लश्करी अर्थ के विषय में याद यह रखना चाहिए कि जब मुगल बादशाह अपनी राजधानी से बाहर किसी पड़ाव पर होते थे तब उनकी उस पड़ाव की राजधानी अथवा शाही शिविर को उर्दू कहते थे । कदाचित् यही कारण है कि शाहजहाँ ने अपनी शाहजहाँना-बादी छावनी का नाम 'उर्दू-ए-मुअल्ला' रखा और मीर अमन

जातियों के मेलजोल से पैदा हुई। कहना न होगा कि उक्त विद्वानों के शुद्ध मतिभ्रम का प्रधान कारण है उर्दू भाषा के इतिहास से उनका सर्वथा अनभिज्ञ होना तथा उर्दू के लुगती अर्थ के भ्रमजाल में फँस जाना।

उर्दू की उत्पत्ति (ना० प्र० पत्रिका सं० १९९४ वि०) नामक लेख में यह दिखा देने की कुछ चेष्टा की गई है कि उर्दू का निर्माण किस प्रकार हुआ और किस तरह वह धीरे धीरे फारसी अरबी की मदद से हिंद के मुसलमानों की अदबी जवान बनी। जानकारों से यह बात छिपी नहीं है कि उर्दू का पुराना या पूरा नाम 'उर्दू' 'लश्कर' नहीं बल्कि उर्दू-ए-मुअल्ला याने शाहजहानाबाद का वह भाग है जिसमें लाल किला और जामा मसजिद आज भी मौजूद हैं। उर्दू-ए-मुअल्ला में एक उर्दू बाजार भी था जिसकी तबाही का उल्लेख मिरजा गालिब ने अपने पत्रों में किया है। सारांश यह कि उर्दू का संबंध सीधे लश्कर से न होकर इसी उर्दू-ए-मुअल्ला से है। उर्दू के लोग अपनी जवान की सनद के लिये सदा से उक्त उर्दू-ए-मुअल्ला के ही कायल रहे हैं। होते भी क्यों नहीं ! उर्दू-ए-मुअल्ला में दर-बार (लाल किला), मजहब (जामा मसजिद), रागरंग (उर्दू बाजार) आदि सभी का विधान था। सभी ने मिल कर उसको सुशोभित किया था।

ने 'लश्कर का बाजार शहर में दाखिल' करा उर्दू को लश्करी और बाजारी बना दिया।

मूल बात, जिसकी अपेक्षा नहीं हो सकती, वह है 'ताज-जबान' की जरूरत। मुसलमानों को हिंद में रहते इतने दिन बीत गए कि उनकी हड्डियाँ तक हिंदी हो गईं। फिर भी उन्हें हिंदी से अलग एक 'नई जबान' बनाने की चिंता क्यों हुई? क्या फारसी और 'भाषा' से अब उनका काम नहीं चल सकता था? निवेदन है, नहीं। क्यों नहीं, इसे भी सुन लीजिए।

औरंगजेब के हाथ में शासन-सूत्र आ जाने से कट्टरता का उदय हुआ। जीवन से काव्य का नाता टूट गया। फारस के कवियों का आना बंद हुआ। दरबार ने फारसी को सराहा पर उसके साहित्य की कोई चिंता न की। फिर भी गनीमत थी। हिंद की बागडोर तो दिल्ली दरबार के हाथ में थी। फारसी का उपयोग हो रहा था। उसके प्रचार में कोई बाधा न थी। ठीक है, पर औरंगजेब की कट्टरता तथा कूटनीति ने मुसलिम शासन को तो शीर्ण कर दिया। उसके बाद ही मुगल राज्य छिन्न भिन्न हो टुकड़ों में बँट गया और बादशाह कविता के बहाने दिल बहलाने लगे। अस्तु, हमारा कहना है कि फारसी की अवनति के कारण एक ऐसी जबान की जरूरत पड़ी जो उसकी जगह आसानी से ले सके और शाही शान को भी बहाल रखे। प्रत्यक्ष है कि यह काम 'भाषा' अथवा हिंदी से हो नहीं सकता था। कारण, वह प्रजावर्ग की भाषा थी। उसको अपना लेने से राजा-प्रजा का भेद बहुत कुछ मिट जाता और शाही-शान सर्वथा मारी जाती। निदान इस्तयाजी लोगों की पक्की

इम्तयाज के लिये यह अनिवार्य हो गया कि आपस में मिल जुल कर एक ऐसी नई ज़बान ईजाद की जाय जो फारसी की जगह शाही ज़बान हो सके और हमेशा मुसलमानों की कैद में रहे। भूलना न होगा कि यही 'इम्तयाजी' 'ताज़: ज़बान' आज उर्दू के नाम से विख्यात है और अज्ञान अथवा प्रमादवश मेलजोल की भाषा समझी जा रही है।

हाँ, तो कं'पनी सरकार का जिस समय दिल्ली दरबार से साक्षात् हुआ उस समय कुछ ज़बान की भी बातचीत आई थी। शाहम्मालम बादशाह को दिखाई दे रहा था कि अब फारसी का अपने पद पर टिका रहना दुशवार है। निदान उन्होंने कं'पनी सरकार से वचन ले लिया था कि वह फारसी की रक्षा करेगी और उसके प्रतिकूल कोई कार्रवाई भी न करेगी। (देखिए मुगल और उर्दू पृ० १५०)

✽ उर्दू के संबंध में भूलना न होगा कि इसका मेलजोल वाला अर्थ अत्यंत अर्वाचीन है। डाक्टर गिलक्रिस्ट ने उर्दू को बराबर दरबारी शैली के रूप में ही याद किया है कुछ 'आम फहम' या ठेठ बोल-चाल के रूप में नहीं। आश्चर्य तो यह देख कर होता है कि इस रोशनी के जमाने में भी लोग उर्दू का मनमाना अर्थ कर रहे हैं और न जाने क्यों उसके सही अर्थ को कबूल नहीं कर लेते। कूटनीति के पुजारी कुछ भी कहें पर हमें तो स्पष्ट घोषित करना होगा कि उर्दू सचमुच एक इम्तयाजी ज़बान है।

कंपनी सरकार शाही जवान अर्थात् फारसी के लिये वचन-बद्ध हो चुकी थी फिर भी 'भाषा' से उसका कोई परंपरागत द्वेष न था। फारसी के साथ ही साथ 'भाषा' भी बढ़ रही थी। इनलिये कोई कारण न था कि कंपनी सरकार 'भाषा' का विरोध करती और आर्यावर्त की प्रिय जनता में एक अजनबी जवान का डौल डालती। निदान उसने निश्चय किया कि सरकारी कामकाज में 'शाही जवान' के साथ ही साथ 'लोक-भाषा' को भी टकसाली रखा जाय।

कंपनी सरकार की 'भाषानीति' पर जमकर विचार करने के लिये आवश्यक ही नहीं बल्कि अनिवार्य भी है कि हम यहाँ उसके कुछ आईनों को पेश करें और स्पष्ट दिखा दें कि 'भाषा' के विषय में उसकी नीति क्या थी, अथवा किस प्रकार वह हिंदी भाषा तथा नागरी लिपि के पक्ष में थी।

कंपनी सरकार का कहना है—

“जीला के फौजदारी के साहेब लोग को लाजीम है के थानेदारि के तहसीलदार सभ वो दारोगा को सनद मै इस आइन का तरजमा फारसी भाखा वो अछर वो हीनदोसतानी भाखा वो नागरी अछर मे देहि वो उस सनद वो तरजमा के उपर फौजदारिका मोहर वो अपना दसतखत करहि।” (अंग-रेजी सन् १८०३ साल ३४ आइन २२ दफा)

‘फारसी भाखा वो अछर’ के विषय में कुछ विशेष रूप से कहने की जरूरत नहीं है। प्रसंगवश आगे चलकर कुछ इस

संबंध में भी निवेदन कर दिया जायगा। यहाँ हमें जिस विषय की खास तौर से छान-बोन करनी है वह है 'हीनदोस्तानी' ❀ भाखा वो नागरी अच्छर।'।

दुर्भाग्यवश हमारे देश में कुछ ऐसे जीव भी निकल पड़े हैं जो इस 'हीनदोस्तानी भाखा' को 'उर्दू जवान का बाचक' समझते हैं और आप दिन अपनी नादानी और गुम-राही के कारण हिंदीवालों से बेतरह उलझा करते हैं। उनकी जानकारी के लिये यह निहायत जरूरी है कि हम कंपनी सरकार के मतलब को खोल कर साफ साफ उनके सामने रख दें और उन्हें भी सुझा दें कि इस रोशनी के जमाने में अपनी आँखों से देखना कितना आवश्यक है।

देखिए—

“इस आईन के तीन दफे के जिलों के जज साहिब और

❀ ‘हिंदुस्तानी’ के विषय में विवाद करना व्यर्थ है। यह एक फारसी भाषा का शब्द है और फारसीयों से ही यूरोपीयों ने भी इस शब्द को सीखा और ठीक उसी अर्थ में प्रयुक्त किया जिस अर्थ में कि फारसी करते थे। हिंदुस्तानी का ठेठ अर्थ है मध्य देश का निवासी अर्थात् ठेठ हिंदुस्तान का हिंदू। आज भी बंगाली तथा महाराष्ट्री इस शब्द का यही अर्थ प्रहण करते हैं। मुसलमान इसके भीतर इसीलिए नहीं आते कि वे अपने को हिंदी नहीं बल्कि बाहरी समझते हैं। हाँ, बाद में हिंदुस्तानी का अर्थ मुसलमान और उर्दू भी जरूर हो गया।

मजिसटरट साहिब को लाजिम है के जिस वकत इस आईन का फारसी या हींदी तरजमा उनके कने पहुँचे तो उसके तई अपनी कचहरीयों में पढ़वावें और मशहूर करें और इसी तरह से जिन आईनों ने के इस आईन के रू से उपर के जिलों में चलन पाई है उनका तरजमा भी पढ़वावें और मशहूर करें और ३ दफे के जिलों की दीवानी अदालत के वकीलों को हुकम है के जौनसी आईन के उपर के जिलों की दीवानी अदालत के मोकद्दमों से किमु तरह का इलाका रबता है तो उस आईन के तरजमे की नकल लेकर अपने पास रख छोड़ें बलके जज साहिब और मजिसटरट साहिबों को यह भी जरूर है के जो नकलें सन १८०३ की ४६ आईन की १० दफे के रू से शहरों और अपने जिलों के काजियों को देवें इसी तरह पर छोटे बड़े के खबर के लिये मोनसिफों की कचहरियों में के वे मोनसिफ सन १८०३ की १६ आईन के मोवाफिक ठरे हैं और अैसे ही तहसीलदार और दारोगों की कचहरियों में के ३५ आईन के रू से पुलीस का इखतेयार उनको दिया गया है पढ़वावें और मशहूर करवावें और जाना जावे के जेतनी आईन के आगे चल के बनेंगी इम कायदे के मोवाफीक इसी तरह पर शोहरत पावेंगी और पाए हुए और फतह किये मूलकों के सब महालों में चलन पावेंगी ।”

(अंगरेजी सन १८०५ साल ८ आईन ३१ दफा)

कहा जा सकता है कि उस समय उर्दू जबान को भी हिंदी ही कहते थे क्योंकि फारसी के मुकाबिले में वह भी हिंदी ही

थी। ठीक है, पर हमारा नम्र निवेदन है कि आप स्वतः आईनों का अध्ययन करें और देखें कि बात क्या है। अब तक आपने हिंदी या हिंदुस्तानी भाषा के साथ नागरी अक्षर का विधान देखा है, अब कृपा कर नागरी भाषा और नागरी अक्षर की व्यवस्था भी देख लीजिए—

“किसी को इस बात का उजुर नहीं होऐ के उपर के दफे का लिखा हुकुम सभ से वाकीफ नहीं है हरी ऐक जिले के कलीकटर साहेब को लाजीम है के इस आइन के पावने पर ऐक ऐक केता इसतहारनामा निचेके सरह से फारसी वो नागरी भाषा वो अक्षर में लोखाऐ कै अपने मोहर वो दसखत से अपने जिला के मालीकान जमीन वो ईजारेदार जो हजुर में मालगूजारी करता उन सभो के कचहरि मे वो अमानि महाल के देसि ताहसीलदार लोग के कचहरि मे भी लटकावही………वो कलीकटर साहेब लोग को लाजीम है के इसतहारनामा अपने कचहरी मो वो अदालत के जज साहेब लोग के कचहरि मे भी तमामी आदमी के बुझने के वासते लटकावही। (अंगरेजी सन १८०३ साल ३१ आईन २०.दफा)

अब इतना मान लेने में तो किसी भी मनीषी को आपत्ति न होगी कि ‘तमामी॥ आदमी के बुझने के वासते ही नागरी भाषा

॥ तमामी आदमी को ‘आमफहम’ भाषा उर्दू न कभी थी और फलतः न आज है ही। आज भी अपढ़ जनता में वह फारसी बूझने या ‘अरबी छांटने’ के रूप में ख्यात है और मुस-

तथा नागरी लिपि की व्यवस्था की गई है। याद रहे जो लोग इम तमासी आदमी की कैद से बाहर हैं वे फारसी के लिखने-पढ़ने वाले अथवा फारसीदाँ ही हैं। क्योंकि नागरी भाषा और नागरी लिपि के अतिरिक्त जिस भाषा तथा जिस लिपि का उल्लेख किया गया है वह फारसी भाषा तथा फारसी लिपि ही है। कहीं पर भी हिंदी भाषा और फारसी लिपि या 'अछर' का विधान नहीं किया गया है। क्या इससे यह स्वतः सिद्ध नहीं हो जाता कि उस समय कं'पनी सरकार के सामने किसी हिंदोस्तानी भाषा और फारसी लिपि के मेल का प्रश्न न था ? क्या अब भी यह दावे के साथ कहा जा सकता है कि उस समय उर्दू जैसी भी कोई चीज 'आम-फइम' थी ? जो हो, अभी तो हमें यह दिखाना है कि कं'पनी सरकार ने हिंदी भाषा तथा नागरी लिपि को और भी बढ़ाया है। यकीन न हो तो टुक इधर भी गौर फरमाइए।”

“जो सीटामप सभ के दावे वो जवाब गैरह कागज के ऊपर किआ जाएगा उसके उपर नीचे का मजमून फारसी भाखे वो अछर वो हीनदवी जूवान वो नागरी अछर में खोदा जाएगा”

लिम लोकगीतों से उसका कुछ भी संबंध नहीं है। क्या हो अच्छा हो कि मुसलिम लोकगीतों का एक साधु संग्रह कर लिया जाय और फिर स्पष्ट दिखा दिया जाय कि हिंदुस्तान की सच्ची हिंदुस्तानी भाषा का स्वरूप क्या है, किस प्रकार वह उर्दू से सर्वथा भिन्न अथवा एक प्रकार की हिंदी ही है।

(अंगरेजी सन् १८०३ साल ४३ आईन १३ दफा ६ तकसील)

कागज ही नहीं कं पनी सरकार ने टकसाल में भी हिंदी को जमा दिया । वहाँ भी उसको फारसी के साथ जगह मिली—

“उपर का लोखा दफा के सरह के ईसतहार पावन पीछे उसका नकल फारसी भाखे वो अद्वर वो हीन दोसतानी भाखा वो नागरी अद्वर में लोखाये कै टकमाल के साहेब टकसाल में आदमी के देखरेख जपेह मे लटकावही” (अंगरेजी सन १८०३ साल ४५ आईन १८ दफा २ तकसील)

तो क्या टकमाल में नागरी को लटकने की ही जगह मिली ? निवेदन है, हरगिज नहीं । उसे सिक्के पर भी आसन मिला । सुनिष कम्पनी सरकार क्या कहती है—

“उपर के लिखे हुऐ पैसे का मंडल अइसा होगा के एक ईंच याने अंगुठे के पहले पोर को २० हिस्सा फरज करके उसके १९ हिस्सेका खत उस मंडल को आधो आध कर सकेगा और उस का वजन आठ आने नौ पाई सिककेभर होगा और उस पर नीचे की लिखी ऐबारत फारसी और नागरी॥ हरफों सं

॥ बहुत आग्रह करने पर सरकार ने नागरी का फिर सिक्कों पर स्थान दे दिया है पर अभी चाँदी के सिक्कों पर किसी भी देशभाषा को स्थान नहीं मिला है । यहाँ तक कि उर्दू कही जान वाली मुल्की जबान को भी चाँदी के सिक्कों पर कोई जगह नहीं मिली, जो लोग ‘हश्त’ और ‘चहार’ आनः को उर्दू समझते हैं उन्हें गीलट के सिक्कों का अध्ययन करना चाहिए और यह ?

जरब की जाएंगी।” (अंगरेजी सन् १८०९ साल की १० आइन ३ दफा)

मुद्राशास्त्र के प्रेमियों से यह बात छिपी नहीं है कि कंपनी सरकार के उक्त आदेश के अनुसार जो सिक्का बना उसपर नागरी अक्षर तो हैं ही, दोनों तरफ त्रिशूत (हिंदू चिह्न) भी बना है। आगे चल कर कंपनी सरकार के शासन में ही नागरी का वहिष्कार किस प्रकार हो गया इस पर विचार करने के पहले ही कुछ अंग्रेजी और हिंदी के साथ को भी देख लेना चाहिए, जिससे हम आसानी से समझ सकें कि आखिर माजरा क्या है।

हम पहले ही कह चुके हैं कि कंपनी सरकार सचमुच सच्चा सरकार न थी बल्कि वह देहली के बादशाह का आर से शासन कर रही थी। निदान उसकी भाषा शाहा जवान फारसी ठहरी। वही फारसी जिसकी परवरिश का उसने बोड़ा उठा लिया था। अतएव उसका परम कर्तव्य था कि वह फारसी का मर्यादा का वदस्तूर बनी रहने दे। पर इस कर्तव्य के पालन में सबसे बड़ी अड़चन यह थी कि वस्तुतः वह न तो उसकी प्रजा की भाषा थी और न उसकी निजी अपनी ज़बान ही। सच पूछिए तो वह बस एक बाहरी लदाव भर थी। इसलिये एक ओर तो वह अपनी सदा के लिये नोट कर लेना चाहिए कि सब कुछ होत हुए भी उर्दू फारसी से कुछ भिन्न है। वह शाहों नहीं बल्कि दबैल गुलामों की ज़बान है।

मातृभाषा अंग्रेजी को अपना रही थी और दूसरी ओर अपनी प्रजा की भाषा हिंदी को सँवार रही थी। सो किस तरह जरा इसे भी देख लीजिए—

“कलीकटर साहेब को लाजीम है के जेता जलदी हो सकै मोकररा मेश्वादी बही का नकल अने दसखत से केआ अंगरेजी वो केआ देसी जुबान में बुरड रेवनू के साहेब लोग के पास भेजहि” (अंगरेजी सन् १८०३ साल ३१ आईन ३७ दफा) और

“अदालत के जज साहेब लोग वो बरडरेवनू के साहेब लोग वो कलीकटर साहेब को तमाम ताकीद है के मोकररी मेश्वादी बही वो दरमेश्वानी जबी बही सभके खबरदारी के वासते केआ अंगरेजी वा केआ देसी जुबान में होए तमाम होसीआरी करहि वो उस बही सभ का नकल जो के दफतर में रखा जाए उसके खबरदारी के वासते उसका जीलद असैस असबाब से तैआर करावही के कीडा ईआ दूसरे सबब से नोकसान नहीं होऐ”। (अंगरेजी सन् १८०३ साल ३१ आईन ३८ दफा)

अंग्रेजी की स्थिति को ठोक ठीक समझने के लिए आवश्यक है कि उसके उपयोग पर ध्यान दिया जाय और कुछ यह प्रत्यक्ष करने की चेष्टा की जाय कि उस समय उसका व्यवहार किस दृष्टिसे तथा किस परिस्थिति में होता था। पहले उस ‘देसी जुबान’ के प्रसंग में देखिए—

“तद उस मजिसटरट साहिब को चाहिऐ कि उस मोकदमे

में अपनी रुबकारी और गवाहों का असल जवानबंदी तरजमे अंगरेजी के साथ उस साहिब के पास जिसको कलारक अफसी-करून कहते हैं भेज देवें और भी मजिसटरट साहिब को चाहिए के उन जवानबंदियों की नकल अंगरेजी जवान के तरजमे साथ नवाब गवरनर जनरल बहादुर की इततेला के वासते भेज देवें" (अंगरेजी सन १८०६ साल १५ आईन २ दफा)

कहना न होगा कि 'नवाब गवरनर जनरल बहादुर' का जो संबंध अंगरेजी से है वही नवाब साहब का फारसी से । इसलिए—

"इस आईन की फारसी जवान के तरजमे में जो अलकाब और आदाब लिखे गए हैं चाहिये के सरकार के अहल कार की तरफ से जद नवाब मनीबेगम साहिब और बबबो बेगम साहिब के नाम में चिटठी लिखी जावे उन चिटठियों में अलकाब और आदाब मजकूर दाखिल किए जावें" (अंगरेजी सन १८०६ साल १६ आईन २ दफा)

मतलब यह कि नवाब साहब की ओर बढ़ने पर फारसी का दखल दिखाई देता है तो नवाब गवरनर जनरल बहादुर के यहाँ अंग्रेजी का राज्य जम रहा है । रही देश की प्रजा की बात, उसके विषय में कंपनी सरकार का विधान है—

‘ जो कैफीयतें और खत और मुकदमे जमींदारों के तरफ से साहिब मजिसटरटके पास भेजे जावें और अइसही जेतने हुकम और बातें मजिसटरट साहिब के तरफ से जमींदारों के

पास भेजवाए जावें चाहिये के उस खत औ बोली में लिखे जावें जो मोवाफिक वहाँ के चलन के हों (अंगरेजी सन् १८०५ साल १८ आईन ७ दफा २० तफसील)

कंपनी सरकार की भाषा-नीति के संबंध में अब तक जो कुछ कहा गया है, उसका सारांश यह है कि कंपनी सरकार ने एक साथ ही चार भाषाओं को अपनाया, जिनमें से फारसी और अंगरेजी तो स्पष्ट ही विदेशी थीं। देश में फारसी तथा अंगरेजी के व्यवहार का कारण प्रत्यक्ष था। फारसी मुसलिम शासन की राजभाषा थी तो अंगरेजी अंगरेज या कंपनी सरकार की निजी भाषा। कंपनी सरकार के साथ ही वह भी सरकारी भाषा हो गई थी। दूसरी ओर हिंदुस्तानी और देशी भाषा की बात थी। देशी भाषा और हिंदुस्तानी का परस्पर वही संबंध था जो किसी भी देशी तथा राष्ट्रभाषा का होता है। राष्ट्रभाषा के कारण नागरी भाषा तथा नागरी लिपि का व्यवहार व्यापक रूप से हो रहा था, तो देशभाषा के नाते बंगला भाषा तथा बंगला लिपि का भी। बंगला का विधान भी आईनों में इसलिये कर दिया गया है कि वह कंपनी सरकार के केंद्र की भाषा थी। उसी के देश में कंपनी सरकार का अड्डा जमा था। उसकी उपेक्षा किसी प्रकार संभव न थी। वह भी एक बड़े भूभाग की भाषा थी। निदान हम देखते हैं कि—

“जो सीटामप सभके अदालत के कागज के उपर कीआ जाऐगा उसके उपर नीचे का मजमुन फारसी वो बंगला भाखे वो अछर वो हीनदी जूबान वो नागरी अछर में खोदा जाऐगा”

(अंगरेजी सन् १८०३ साल ४३ आइन १५ दफा २ तकसील)

साथ ही अंगरेजी का भी दर्शन कर लीजिए--

“सुपरीनटनडट साहेब को लाजिम है के सीटामप कीआ हुआ कागज सभ अदालत गैरह के दफतर के साहेब लोग ईआ जो कोई के तलब करने का अखतीआर सवै उसके पास सरबराह देने के आगे सरकारि खजाने के सीटामप के उपर अंगरेजि जुबान वो हरफ में टेरेजोरी वो खजाने आमरे का बात फारसी वो बंगला वो हनदी भाखे वो अझर में खोदा जाएगा” (अंगरेजि सन् १८०३ साल ४३ आइन १९ दफा)

जिन विद्वानों ने प्रकृत अवतरणों पर कुछ भी ध्यान दिया होगा कदाचित् उनसे अब यह कह देने की कुछ भी आवश्यकता न रही कि कंपनी सरकार ने हिंदुस्तानी भाषा तथा नागरी लिपि को जो महत्त्व दिया है वह परंपरागत तथा सर्वथा साधु है। उसमें किसी प्रकार के मीनमेष की गुंजाइश नहीं। फिर भी हममें से कुछ ऐसे महानुभाव भी निकल आएँगे जो अब भी हिंदुस्तानी का अर्थ + उर्दू ही करार देने का इसगार करेंगे।

+ हिंदुस्तानी का अर्थ उर्दू क्यों हो गया, इसका कुछ विचार अन्यत्र किया गया है। अच्छा हो, यदि इसके लिये पाठक विशाल भारत (फरवरी सन् १९३९ ई०) का ‘हिंदुस्तानी’ नामक लेख पढ़ें। उसमें उन्हें इसके लिये कुछ सामग्री अवश्य मिल जायगी। यहाँ बस इतना जान लें कि जिस तरह हिंदुस्तान

इसलिये उनसे स्पष्ट निवेदन कर देना है कि तनिक कंपनी सरकार की आईनों का अध्ययन करें और अपने गुमराही रस्ताओं की बचकानी बातों को भूल कर स्वच्छ हृदय से सत्य का अनुसंधान करें और फिर देखें कि हिंदुस्तानी, हिंदी अथवा नागरी का अर्थ क्या है। क्यों आईनों में हिंदुस्तानी भाषा और नागरी अक्षरों का विधान प्रायः मिलता है, पर उर्दू भाषा और फारसी लिपि का उल्लेख कहीं दिखाई भी नहीं देता। कारण प्रत्यक्ष है। उस समय उर्दू नाम का कोई देशभाषा न थी। हाँ, दिल्ली दरबार की चलित राजभाषा का नाम उर्दू चल निकला था और वह फारसी के साथ ही साथ दरबारों में चल पड़ी थी। दिल्ली की अपेक्षा लखनऊ में उसका अधिक सत्कार हो रहा था और वह धीरे धीरे फैल कर फारसी की जगह चालू हो रही थी। यही कारण है कि कंपनी सरकार ने उसे कचहरियों और कागजों में तो स्थान नहीं दिया, पर कालेजों तथा मदरसों में उसका स्वागत किया और उसके पठन पाठन पर विशेष ध्यान दिया।

उर्दू के परम हितैषी, 'अजुमन तरकी उर्दू' के प्राण मौलाना अब्दुल हक ने ठीक ही कहा है कि—

“मैं डाक्टर गिलक्रिस्ट को उर्दू जवान का बहुत बड़ा मोह-मिन ख्याल करता हूँ। वह न सिर्फ एक तरह से फोर्ट विलियम

हिंदुस्तानियों का नहीं रहा, उसी तरह उनकी 'हिंदुस्तानी' उनकी हिंदुस्तानी नहीं रही बल्कि किसी और की उर्दू हो गई।

कालेज कलकत्ता के क्रयाम का बाअस हुए जिसने उर्दू की बहुत बड़ी खिदमत की, बल्कि उन्होंने उर्दू की तौसीम व अशा-अत के लिये बहुत कारामद और मुफ्तीद किताबें लिखीं। मुल्क के क्राबिल अह्ल जवान जमा किए और अपनी निगरानी और हिदायत में अच्छी अच्छी किताबें लिखवाईं या तरजमः कराईं।”

पर इसके आगे जो कुछ वे फरमाते हैं उससे हम सर्वथा सहमत नहीं हैं। उनका कहना है—

“ग़ालिबन् डाक्टर गिलक्रिस्ट ही की सई और असर का नतीजः था कि उर्दू की रसाई सरकार दरबार में हुई और आखिर सन् १८३२ ई० में फ़ारसी की जगह दफ्तरी ज़बान हो गई।” (उर्दू, अंजुमन तरक्की उर्दू औरंगाबाद, सन् १९२४ ई० पृ० ४९४)

किंतु हम अच्छी तरह जानते हैं कि उर्दू कभी भी सरकार की ओर से दफ्तरी ज़बान सन् १८३२ या सन् १८३५ ई० में जैसा कि बाद में वे खयाल करते हैं, नहीं हुई और सच पूछिए तो आज तक भी उर्दू दफ्तरी ज़बान न हो सकी। क्या कोई भी उर्दू का हिमायती सच्चे दिल से, हक का खयाल कर के, दावे के साथ कह सकता है कि आज भी कचहरी की ज़बान वह उर्दू हो पाई है जिसे वह हिंदुस्तानी या ‘आमफहम’ कहता है? यदि नहीं तो क्यों? सुनिए—

“Persian as the official language was discarded in 1837, and English and the Vernaculars of India put in its place. From that date, in every school and court, this change of language served as a constant reminder to the Muslim of the distinct loss that had come to his community and of the fact that he was now among the subject races of mankind. It is true that in the distinctly ‘Muslimised’ sections of the Country, such as the United Provinces and the Punjab, the newly, developed Indian Muslim language, Urdu, was accepted rather than Hindi as the Vernacular preferred in the Courts. But this offered little Consolation to the wounded feelings of Muslims in the early days, though at the present time it has come to be one of the elements of Muslim culture in India that is most dearly prized by the Community. (Indian Islam, Dr. M T. Titus, Oxford university Press 1930, P. 191-2)

अच्छा होगा सन् १८३७ ई० के उक्त विधान ही को देख लिया जाय । वह है—

“His Lordship in Council strongly feels it to

be just and reasonable that those judicial and fiscal proceedings on which the dearest interests of the Indian people depend, should be conducted in a language which they understand. That this great reform must be gradual, that a considerable time must necessarily elapse before it can be carried into full effect, appears to his Lordship in Council to be an additional reason for commencing it without delay. His Lordship in Council is therefore disposed to empower the Supreme Executive Government of India, and such subordinate authorities as may be thereunto appointed by the Supreme Government, to substitute the Vernacular languages of the country for the Persian in legal proceedings and in proceedings relating to the revenue. It is the intention of his Lordship in Council to delegate the powers given by this Act, for the present only to the Governor of Bengal and to the Lieutenant Governor of the North Western Provinces, and he has no doubt that those high authorities will exercise these powers with that caution which is required at the

first introduction of extensive changes however salutary in an old and deeply rooted system.” (Fort William. 4 th September, 1837 & Act 29 of 1837.)

कहना न होगा कि उक्त विधान में फारसी की जगह दी गई है भारतीय देशभाषाओं को, न कि दरबारी जवान उर्दू को । देशभाषाओं के विषय में हम पहले ही देख चुके हैं कि आर्देबिल में स्पष्टतः नागरी भाषा तथा नागरी लिपि एवं बंगला भाषा तथा बंगला लिपि का विधान है, कुछ उर्दू भाषा और उर्दू लिपि का नहीं । परमात्मा ने जिसके मस्तिष्क में थोड़ी सी भी बुद्धि रख दी होगी, वह निहायत आसानी से देख सकता है कि वस्तुतः फारसी की जगह इन्हीं देशभाषाओं को दी गई है । बंगाल में बंगला भाषा तथा लिपि को और पश्चिमोत्तर (युक्त) प्रांत में नागरी भाषा तथा लिपि को फारसी भाषा तथा फारसी लिपि का स्थान मिला है । पर हम देखते क्या हैं कि बंगाल में तो बंगला भाषा तथा बंगला लिपि का प्रचार हो गया, पर पश्चिमोत्तर (युक्त) प्रांत में नागरी भाषा तथा नागरी लिपि का निशान भी मिटा दिया गया । फारसी की जगह किस देशभाषा को मिली, हम आज भी नहीं समझ सकते । हाँ, फारसी लिपि और नागरी अक्षर अवश्य कचहरियों में दिखाई दे जाते हैं, पर हमें कहीं 'हिंदुस्तानी' जवान नहीं दिखाई देती । जो जवान वहाँ कागजों में बरती जाती है वह एक टूटी-फूटी-घिसी-पड़ी फारसी

हैं, जिसके सिर पर अरबी का लदाव है ! वह मुसलिम शासन की राजभाषा फारसी से भी अधिक अजनबी और कठोर है । कारण, यहाँ की देशभाषाओं से उसका कुछ भी सहज संबंध नहीं है । अरबी एक बिल्कुल भिन्न भाषा है पर फारसी का मूल देशभाषाओं के मूल से भिन्न नहीं है । इसी अभिन्नता के कारण हम खरी फारसी को सदा से अरबी पर तरजीह देते आ रहे हैं और देश की भाषाओं में अरबी का बेतुका मेल ❀ अच्छा नहीं समझते । हम कह नहीं सकते कि किस न्याय से कचहरी की बनावटी संकर भाषा हमारी भाषा या देशभाषा कही जा सकती है, और उसे बोलने या समझने वाले देश में कहाँ के कितने लोग हैं ।

फारसी के विषय में हम पहले ही कह चुके हैं कि वह दर हकोकत शाही जबान थी और 'शाह' के नाते से ही कंपनी सरकार में चल रही थी । कंपनी सरकार के साहबों को उसे

❀ उर्दू की प्रवृत्ति को देख कर यह बरबस मानना पड़ता है कि वह प्रति दिन अरबी की ओर बढ़ती जा रही है । बात यह है कि मजहबी बातें जनता को जितनी भड़का सकती हैं उतनी कोई और नहीं । दुःख तो यह जान कर होता है कि उर्दू में अरबी की बाढ़ प्रसिद्ध राष्ट्रनेता मौलाना अबुल कलाम आजाद के साथ आई और नवाब हैदराबाद की कृपा से चारों ओर फैल गई । इतनी फैल गई कि अब मौलाना आजाद के बश की बात नहीं रही । वह आजाद क्या खुदमुख्तार हो गई ।

भी उसी तरह सीखना पड़ता था जिस तरह हिंदी तथा उर्दू को। लोकभाषा होने के कारण हिंदी का अध्ययन अनिवार्य था, पर उर्दू और फारसी का अध्ययन केवल दरबार की दृष्टि से किया जाता था। किंतु कंपनी सरकार की निजी भाषा फारसी नहीं अंगरेजी थी। अंगरेजी में ही उसके निज के काम होने थे और धीरे धीरे वही कंपनी सरकार की राजभाषा हो रही थी। निदान, अंगरेजी को फारसी की जगह मिली और साहसों के पत्र-व्यवहार फारसी की जगह अंगरेजी में होने लगे।

अंगरेजी सरकार सचमुच जिस भाषा को बढ़ाना चाहती थी वह देशभाषा नहीं अंगरेजी थी। उसी अंगरेजी के पनपने के लिये फारसी दफ्तर से निकाल दी गई। फारसी को निकाल फेंकना आसान न था। मुसलिम उसके लिये मर मिटने को तैयार थे और अंगरेजी को नफरत की नजर से देखते थे। सैयद अहमद रायबरेलवी ने तो 'जिहाद' का फतवा दे दिया था और स्वयं सिक्खों से लड़ने के लिये पेशावर पहुँच गए थे। यद्यपि इस धर्मयुद्ध में उनका अंत (सन् १८३३ ई०) हो गया तथापि उनका कट्टर 'मुहम्मदी' तरीका आगे बढ़ा और अंगरेजों तथा हिंदुओं के लिये एक जहमत हो गया। अंगरेजों ने इस अवसर पर कपट और चातुरी से काम लिया और फारसी की जगह दरवागी उर्दू को चालू कर दिया। ध्यान देने की बात है कि जो सरकार पहले नागरी भाषा और नागरी अक्षर का विधान इसीलिये करती थी कि उसकी बातें देश की

जनता के कान तक पहुँच सके, वही अब उर्दू भाषा और फारसी लिपि का सत्कार इसलिये करने लगी कि वास्तव में वे ही अब भारत की देशभाषा और देशलिपि हैं। इस घोर अन्याय का अंत यहाँ हो जाता तो भी गनीमत थी। पर यारों को इतने से ही चैन न मिला। हिंदो को शिक्षा से भी निकाल बाहर करने का पूरा प्रयत्न किया गया और समय समय पर कुछ सफलता भी मिलती रही।

खैर, अपनी रक्षा और नीति के विचार से अंगरेजी सरकार ने मुनासिब समझा कि देशभाषाओं को फारसी की जगह धीरे धीरे दी जाय। फारसी के दफ्तर से निकल जाने से मुसलमानों की सबसे बड़ी क्षति यह होती कि उनकी शाही शान मिट्टी में मिल जाती, और यदि कहीं उसकी जगह देशभाषा हिंदी को मिल जाती तो फिर और भी गजब हो जाता। प्रजा की भाषा राजा की भाषा को खदेड़ देती। बात तो यही थी, पर स्थिति अपने हाथ में न थी कि फारसी की पूरी पूरी रक्षा हो जाती। निदान उनको 'इस्तयाजी' उर्दू की सुधि आई और उसी को फारसी की जगह देशभाषा के नाम पर कंपनी सरकार के सामने पेश किया। कंपनी सरकार के साहब लिखा पढ़ी के लिये फारसी और बातचीत के लिये उर्दू पहले से ही पढ़ रहे थे। उर्दू की लिपि भी वही थी जो फारसी की थी। इसलिये उनको यह बात रुच गई और वे भी प्रमादवश उर्दू की दाद देने लगे। हिंदी की ओर से यदि कुछ कहा जाता तो 'धीरे धीरे' का कवच सामने

आ जाता और शिक्षा में उर्दू का बाजार गर्म होता। उर्दू का प्रचार ही अभीष्ट हो जाता। इतना ही नहीं सरकार की आज्ञा भी टोकरी में नजर आती और व्यर्थ में कूड़ा करकट बढ़ाकर कचहरी की हवा को गंदी कर देती।

देहली और लखनऊ की तरह फोर्ट विलियम भी अब एक उर्दू केंद्र बन गया था। कंपनी सरकार का सूत्रधार यहीं से अपना नायबी अभिनय करता था। काल पाकर यही अभिनय घटना के रूप में उपस्थित हो गया और भारत का शासन सूत्र सच-मुच अंगरेजों के हाथ में आ गया। पर बादशाह की अधीनता में उन्हें भी फारसी को अपनाना पड़ा था और उसके पोषण के लिये बहुत कुछ व्यय भी करना पड़ा था। जिस फोर्ट विलियम कालेज की चर्चा ऊपर की गई है उसकी बुनियाद ही इसलिये पड़ी थी कि कंपनी सरकार के साहबों को फारसी अच्छी तरह आ जाय। फारसी पढ़ानेवाले मुंशियों को

❀ बोलचाल या लोकभाषा की दुहाई तो बार बार दी जाती है, पर कभी यह देखने का कष्ट नहीं किया जाता कि आखिर सरकारी दफ्तरों या कचहरियों की भाषा ठीक और बोधगम्य क्यों नहीं हो पाती। कितनी लज्जा और घृणा की बात है कि सरकार चाहती तो है जनमत और लोकभाषा को, पर अपना काम निकालती है जाली और बनावटी चोर-भाषा से—उस चोरभाषा से जिसे केवल 'मौसियाउत भाई' ही समझ सकते हैं।

अंगरेजी का ज्ञान न था और फारसी पढ़नेवाले साहबों को फारसी का पता न था। इसलिये डाक्टर गिलक्रिस्ट ने (मृ० सन् १८४१ ई०) हिंदुस्तानी को माध्यम बनाया और अपने मंदिर में फारसी और हिंदुस्तानी को शिक्षा देने लगे। उनके अनुरोध से उम समय के गवर्नर जनरल बहादुर मारक्वीस बेलजली ने फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना (सन् १८०० ई०) किसी प्रकार कर दी और उन्हें उसमें हिंदी अध्यापक नियत कर दिया। याद रहे इस कालेज की अध्यापकी केवल उन्हीं मज्जनों के लिये सुरक्षित थी जो सच्चे ईसाई ही नहीं बल्कि इंगलैंड के चर्च के भक्त भी थे और भारत में ईसाई मत की हिमायत भी कर सकते थे।

डाक्टर गिलक्रिस्ट की दृष्टि में हिंदी के उस रूप को महत्त्व मिला, जिसे वे 'मुंशी रूप' ❀ कहा करते थे। उनके विचार में

❀ डाक्टर गिलक्रिस्ट की दृष्टि में एक ही 'भाषा' के तीन रूप थे। उन्हीं रूपों की चर्चा उन्होंने बार बार की है। उर्दू-रूप का प्रचार तो दशबार में था और मुंशी रूप का व्यवहार मुंशी लोगों के कामधंधों में होता था। रही ठेठ रूप की बात। उसका प्रचार जनसामान्य में था और सभी हिंदुस्तानी उसका बोलते चालते तथा समझ लेते थे। डाक्टर गिलक्रिस्ट का काम साहबों को साहबी के लिये तैयार करना था, जिसके लिये मुंशी शैली अनिवार्य थी। न जाने कब तक लोग उन्हें शुद्ध हिंदी का जन्मदाता मानते रहेंगे।

मध्यमार्ग का अवलंबन ही श्रेष्ठ था। उनको इस बात का दुःख था कि ब्रजभाषा के साथ ही साथ खड़ी बोली या ठेठ भाषा का भी वहिष्कार कर दिया गया; क्योंकि लोकहित के लिये उसे ही वे उचित समझते थे। अच्छा होगा, इसे उन्हीं के मुँह से सुन लीजिए—

“I very much regret that along with the Brij Bhasha, the Khuree bolee was omitted since this particular idiom or style of the Hindoostanee would have proved highly useful to the students of that language” (The Oriental Fabulist. 180-3 P. V.)

डाक्टर गिलक्रिस्ट जिस ठेठ अथवा खड़ी शैली के भक्त थे उसका वहिष्कार दिल्ली दरबार कुछ पहले ही कर चुका था। दूसरे उसके आधार पर फारसी का अध्यापन भी कठिन था। उसके लिये दरबारी अथवा उर्दू शैली का स्वागत अनिवार्य था। फिर भी डाक्टर गिलक्रिस्ट ने राजा और प्रजा में संधि स्थापित करने के लिये बीच की ‘मुंशी शैली’ अथवा ‘रेखता की बोली’ को महत्व दिया।

फोर्ट विलियम कालेज (सन् १८०० ई० में स्थापित) में डाक्टर गिलक्रिस्ट अधिक दिन तक न टिक सके। उनके विलायत वापस जाने के बाद (सन् १८०४ ई०) ‘कप्तान जिमिस मोअट साहिब’ उनकी जगह ‘मुदर्रिसि हिंदी’ नियुक्त हुए।

उनके समय में बैताल पचीसी का संशोधन किस दृष्टि से हुआ इसे भी देख लीजिए। उसके लेखक बजहर अली खाँ 'विला' किस शान से फरमाते हैं—

“इब्तिदाय दास्तान यों है, कि मुहम्मदशाह बादशाह के जमाने में, राजा जैसिंह सवाई ने, जो मालिक जैनगर का था, सूरत नाम कविश्वर से कहा कि बैताल पचीसी को, जो जबान संस्कृत में है, तुम ब्रज भाषा में कहो, तब उसने बमूजिव हुकम राजा के, ब्रज की बोली में कही, सो अब शाहिआलम बादशाह के अहद के बीच, और असर में अमीरुल उमरा जुब्दए नोई-नानि अजीमुश्शान, मुशीरि खासि शाहि कैवान बारगाहि इंगलिस्तान, अशरफुल अशरफ मारकुइस बलिजली गवरनर जनरल बहादुर (दाम मुल्कुहु) के, मजहर अली खानि शाइर ने, जिसका तखल्लुस विला है, वास्ते सीखने समझने साहबानि आलीशान के, बमूजिव फरमाने जनाब जान गिलक्रिस्त साहिब (दाम इकबालुहु) के, जबानि सहल में, जो खास ओ आम बोलते हैं और जिसे आलिम वो जाहिल गुनी कूढ़ सब समझें, और हर एक की तबीअत पर आसान हो, मुश्किल किसी तरह की जिहन पर न गुजरे, और ब्रज की बोली अक्सर उसमें रहे, श्रीलाल जो लाल कवि की मदद से बयान किया था।”

यह तो हुई 'जान गिलक्रिस्त साहिब' के समय याने सन् १८०१ ई० की बात। अब जरा 'जिमिस मोअट साहिब' के

जमाने याने सन् १८०५ ई० की दास्तान सुनिए—

“फिल्हाल, मुवाफिक इरशादि मुदर्रिसि हिंदी खुदावंदि निअमत जनाब कमान जिमिस मोअट साहिब (दाम इक-वालुहु) के, तारिणीचरण मित्र ने, छापे के वास्ते, संस्कृत और भाषा के अलफाज को, जो रेखते के मुहावरे में कम आते हैं, निकाल कर मुरव्वज अलफाज को दाखिल किया, मगर बअजे लफ्ज हिंदूओं का, जिसके निकालने से खलल जाना, बहाल रखा, उम्मेद है कि हुम्नि कबूल पावे”

(मुकद्दम: The Baital Pachisi, by Duncan Forbes, L. L. D., W. H. Allen, And Co London. 1857)

इस लंबे अवतरण की आवश्यकता इस प्रसंग में इसलिये पड़ी कि कहीं आप भी उस व्यापक भ्रम के शिकार न हो जायें जिसके नामी पेशवा डाक्टर अब्दुल हक ने अभी उस दिन यह दावा पेश किया है कि—

“फोर्ट विलियम कालेज के मुंशियों ने (खुदा उनकी अर-वाह को शरमाए) बैठे बिठाए बिना वजह और बग़ैर जरूरत यह शोश: छोड़ा। लल्लूजी लाल ने जो उर्दू के जबाँदाँ और उर्दू किताबों के मुसन्नफ भी थे, इसकी बिना डाली। वह इस तरह कि उर्दू की बाज किताबें लेकर उन्होंने उनमें से अरबी, फारसी लफ्ज चुन चुन कर अलग निकाल दिए और उनकी जगह संस्कृत और हिंदी के नामानूस लफ्ज जमा दिए, लीजिए हिंदी बन गई।” (उर्दू, अंजुमन तरक्की उर्दू, औरंगाबाद,

(दकन अपरैल सन् १९३७ ई०, पृ० ३८३)

अब आप स्वतः आसानी से समझ सकते हैं कि वास्तव में मामला क्या है। क्यों मजहर खाँ विला कहते हैं कि संस्कृत और भाषा के अल्फाज को निकाल बाहर किया और उनकी जगह 'मुरव्वज' याने अरबी फारसी शब्दों को जड़ा और डाक्टर मौलाना अब्दुल हक ❀ फरमाते हैं कि अरबी फारसी लफ्जों को चुन चुन कर निकाला और उनकी जगह 'संस्कृत और हिंदी के नामानूम लफ्ज जमा दिए। आप की सुविधा के लिये हम इतना और निवेदन कर आगे बढ़ना चाहते हैं कि नासिख (मृ० १८३८ ई०) ने "मुहावरात व रोजमर्रः को छानबीन की और जून व मर्द के मुहावरह में फर्क किया और अवाम व खवास के बोलचाल में अलहदगी की। चूँकि इसमें हर शख्स को दखल देना मुश्किल था इसलिये असूल इसका यह रखा कि

❀ खेद है कि 'हिंदुस्तानी' के प्रसिद्ध प्रेमी और 'हिंदुस्तानी एकेडेमी' के चिर मंत्री डाक्टर ताराचंद जी भी इधर उक्त मौलाना की हाँ में हाँ मिलाने लगे हैं और चंद 'गलतफहमियों' को दूर करने में स्वतः भयंकर भ्रमभूलों के शिकार हो गए हैं। इसका मुख्य और प्रधान कारण यह है कि अभी बहुतों का भाषा संबंधी बचपन बदस्तूर बना है और फलतः आज वे उन्हीं दिनों की बातों को प्रमाण क्या, ध्रुव सत्य मानने के लिये विवश हो रहे हैं।

फ़ारसी और अरबी ❀ अल्फ़ाज़ जहाँ तक मुफ़ीद माने मिलें हिंदी अल्फ़ाज़ न बाँधो। इस सबब से ख़वास को फ़ारसी अरबी की तरफ़ तवज्जह ज़रूर हो गई।” (तज़ करह जलबह खिज़, जिल्द दोयम, सफ़ीर, नूरुल अनवार, आरह सन् १८८५ ई० पृ० ८४ नोट)

परिणाम इसका यह हुआ कि

“नस्ख़ालों ने नस्ख़ की, नज़्म वालों ने नज़्म की दुरुस्ती की। सरकारी स्कूलों में बावजूद क़वायद गिलक्रिस्ट और दरिया-ए-लताफ़त के नई किताब क़वायद उर्दू में ‘नासिख़’ के असूल पर लिखवाई गई। अह्म अख़बार ने अपने अपने मुक़ाम पर एबारत का ढंग दुरुस्त किया। गर्ज़ सब एक ही रंग में डूब गए।” (बही पृ० ४६३)

और गार्साँद तासी जैसे कट्टर उर्दू परस्त मर्मज्ञ को कहना पड़ा कि—

“सर्फ़ व नहो के एतबार से उर्दू ज़बान ईरानी है और

❀ देखा आपने ? यह है नासिख़ी उर्दू का तर्ज जिसके लिये हमारे सर तेजबहादुर सप्रू जैसे धुरंधर वकील हैरान हो रहे हैं और प्रमादवश इसी को ‘आम फ़हम’ करार देते हैं। करें क्या ? शिक्षा और संस्कार के जाले को फाड़ कर बाहर निकल आना उनके अधिकार की बात नहीं है। फिर भला उस आरंभिक पाठ को भुला कैसे दें, जिसकी शिक्षा बचपन में किसी मौलवी साहब से उन्हें मिली थी।

अल्फाज के एतबार से सामी ।” (खुतवात गासां दतासी, अंजु-
मन तरकी उर्दू, औरंगाबाद (दकन) सन् १९३५ ई०
पृ० ३६५)

कहने का तात्पर्य यह कि उर्दू ‘हिंदी’ न रह कर ‘फारसी-
अरबी’ हो गई और फोर्ट विलियम अथवा अंगरेजी सरकार ने
उसी तरह उसको बढ़ावा देना आरम्भ कर दिया जिस तरह
इसलामी सरकार देहली और लखनऊ में दे रही थी । यही
क्यों ? अंगरेजी सरकार ने तो कुछ और भी बढ़ कर काम
किया और कचहरी से मद्रसे तक हिंदी जनता के लिये उर्दू
का जाल, अपनी उदारतावश, बिछा दिया । फिर हिंदी के कर्ण-
धार कूश्ते-फाँदते और चिल्लाते नहीं तो और क्या करते ?
क्या इस फारसी-अरबीमयी उर्दू को अपनी मादरी ज़बान मान
लेते और अपनी भाषा तथा राष्ट्रभावना को सर्वथा लुप्त हो जाने
देते ? क्या ऐसी घोर परिस्थिति में सरकार से न्याय के लिये
प्रार्थना करना भी अपराध है ? क्या अपने अधिकार की कामना
भी पाप है ? यदि नहीं, तो सैयद अहमद खाँ बहादुर के इस
अमर्ष का क्या अर्थ—

“मुसलमानों के हक में अब यह बात मुफ़ीद नहीं है कि
कोई अन्न उनके फ़ायदह और उनकी हालत के मुनासिब किया
जाये बल्कि तमाम अमूर उनकी हालत और फ़ायदह के बर-
खिलाफ़ होने उनके हक़ में निहायत फ़ायदह बख़्शेंगे । हमारी
राय यह है कि तमाम देहाती और तहसीली मक़तब बिल्कुल

हिंदी और नागरी कर दिए जावें, तमाम अदालतों की ज़बान और खत बिल्कुल हिंदी और नागरी कर दिया जावे ताकि मुसलमानों की हालत ऐसी अवतर और खराब हो जावे कि उनकी तमाम चीजें और तमाम जरूरियातें बिल्कुल नेस्त और नाबूद हो जावें और किसी किसिम का रोज़गार उनको मुयस्सर न हो।” (रुयदाद इज्जलास, मेडिकलहाल प्रेस, बनारस सन् १८७२ ई० पृ० २९)

सैयद अहमद खाँ बहादुर के प्रकृत प्रकोप का कारण है—

“एक और मुझे ख़बर मिली है जिसका मुझको कमाल रंज और फ़िक्र है कि बाबू शिवप्रसाद साहब की तद्वरीक से अमूमन हिंदू लोगों के दिल में जोश आया है कि ज़बान उर्दू व खत फ़ारसी को जो मुसलमानों की निशानी है मिटा दिया जाय। मैंने सुना है कि उन्होंने ❀ साइंटिफिक सोसाइटी के हिंदू मेम्बरों से तद्वरीक की है कि बजाय अख़बार उर्दू हिंदी हो, तरजमः कुतुब

❀ सैयद अहमद खाँ बहादुर ने उक्त सोसाइटी की स्थापना सन् १८६३ में की। इसका श्री गणेश तो गाजीपुर में किया गया पर पालन पोषण अलीगढ़ में हुआ, कहना न होगा कि दर हकीकत यह वह सोसाइटी है जिसके एक मेम्बर ने यहाँ तक प्रस्ताव कर दिया था कि ‘मुल्की ज़बान’ उर्दू में से टवर्ग तक निकाल दिए जायें। उनका एकमात्र अपराध शायद यह था कि उनका अरबी या फ़ारसी में प्रचार न था।

भी हिंदी में हो। यह एक ऐसी तदबीर है कि हिंदू मुसलमान में किसी तरह इत्फ़ाक नहीं रह सकता। मुसलमान हरगिज़ हिंदी पर मुत्तफ़िक़ न होंगे और अगर हिंदू मुस्तैद हुए और हिंदी पर इसरार हुआ तो वह उर्दू पर मुत्तफ़िक़ न होंगे और नतीजः इसका यह होगा कि हिंदू अलहदः मुसलमान अलहदः हो जावेंगे। यहाँ तक तो कुछ अंदेशः नहीं। बल्कि मैं समझता हूँ कि अगर मुसलमान हिंदुओं से अलहदः हो कर अपना कारोबार करेंगे तो मुसलमानों को ज़्यादाह फायदह होगा और हिंदू नुक़सान में रहेंगे।” (ख़तूत सर सैयद, सैयद रास मसूद, निज़ामी प्रेस बदायूँ, सन् १९२४ ई०, पृ० ८८-९)

बाबू शिवप्रसाद का अपराध था—

“The Government voting that English is not the language for the masses, are thus unconsciously forcing another foreign language namely Persian, or I may say Semi-Persian, the Urdu in Persian Characters, upon the helpless masses, in fact doing whatever the Muhammadan Emperors of Delhi never thought to do. I see in all the Village Schools called Tahsili and Halkabandi, Persian is now taking the place of the Hindi and those which are still left Hindi are looked down upon as worthless.....The Persian of

our day is half Arabic.....leaving the question of nationality and evils aside, the inconvenience which arises in the formation of Vernacular literature by cutting it as under from the other branches such as Bengali, Maharastri and Gujrati of the Aryan family of language and crippling over resources, is so great, that only of the responsibility of estranging the people of the N.W. P. and Oudh and the Punjab from those of Bengal, the Central Provinces and the Bombay Presidency, where Government allows the Aryan offsprings just named above, still to live in peace by imbuing the former with new, namely, the semetic element, ought to make any Government if not shrink, at any rate, reflect before they commit themselves irrecoverably. It is very easy for Hindi, Bengali, Gujrati and maharastri books, to be translated from one into the other, the scientific and the technical terms being just the same, but as soon as we come to the Urdu we must call in the assistance of Arabic, and open over Qamus and Burhani Qati. How easy it is to

form scientific and technical terms from sanskrit roots, I refer to the works of Dr. Ballantyne; whereas the Arabic does not afford the same facility.

I pray that the Persian letters may be driven out of the courts as the language has been, and that Hindi may be substituted for them" (Memorandum, 1868)

Quoted in Court Character, Indian Press, 1897, P. 73, (Appendix)

स्पष्ट है कि बाबू शिवप्रसाद साहब उर्दू भाषा का विरोध नहीं बल्कि नागरी अक्षर का प्रचार और अरबियत की रोक चाहते थे। उनका कहना है—

“पस उर्दू याने हाल की हिंदी या हिंदुस्तानी को जड़ हम ही ❀ लोग हैं अगर ये सब पढ़ेभी हमारे इस जमाने की

❀ उक्त बाबू साहब पर भी वही बचकानी बात हावी है। उनकी समझ में यह न आ सका कि प्रसाद, लाल और जाति (जाति) आदि किस भाग के शब्द हैं और क्यों हमारी 'हाल को हिंदी या हिंदोस्तानी' में 'प्रसाद' 'लाल' और 'जाति' नहीं लिखे जाते; क्योंकि यही उनका शुद्ध या साधु रूप है। बात यह है कि अभी हम लोगों ने अपनी मुल्की जबान

बोली की जड़ होते तो उसमें हमको फ़ारसी अरबी अंगरेजी के गलत लफ्जों के बदले अपने देसी अल्फ़ाज़ ग़लत और कुछ के कुछ जैसा उन्हें वे परदेसी तलफ़ुज करते हैं मिलते । गर्ज मौलवी और पंडित दोनों की यह बड़ी भूल है कि एक तो सिवाय फ़ेल और हरफ़ों के बाक़ी सब अल्फ़ाज़ सहीह फ़ारसी अरबी के काम में लाना चाहते हैं और दूसरे सहीह पाणिनी की टक़साल के खुरखुरे संस्कृत गोया यह जो हज़ारों बरस से हम ही लोग हज़ारों हालतों के बाअस हज़ारों तबदुल व तग़ैयुर अपनी ज़बान में करते चले आए हैं, वह उनके रत्ती भर भी लिहाज़ के क़ाबिल नहीं ।.....हिंदी ज़बान का फ़ारसी अरबी तुर्की और अंगरेजी लफ्जों से ख़ाली करने की बेशिश बैसी ही है जैसे कोई अंगरेजी को यूनानी, रोमी, एलमानी वग़ैरह परदेसी लफ्जों से ख़ाली करना चाहे ।” (उर्दू सर्फ़ बो नहो, मतबा मुंशी नवल किशोर सन् १८७५ ई० पृ० १२०-१)

और—

“हम लोगों को जहाँ तक बन पड़े चुनने में उन शब्दों को लेना चाहिए कि जो आमफ़हम और ख़ाम-पसंद हों अर्थात् जिनको ज़ियादा आदमी समझ सकते हैं और जो यहाँ के पढ़े लिखे, आलिम फ़ाज़िल, पंडित, विद्वान् की बोल चाल में छोड़े

उर्दू का उद्घाटन अच्छी तरह नहीं किया । फिर भ्रम के शिकार क्यों न हों ? क्यों न उसे अपनी ‘मादरी ज़बान’ मान लें ?

नहीं गए हैं, और जहाँ तक बन पड़े हम लोगों को हर्गिज गैर मुल्क के शब्द काम में न लाने चाहिए और न संस्कृत की टकसाल कायम करके नए-नए ऊपरी शब्दों के सिक्के जारी करने चाहिए, जब तक कि हम लोगों को उसको जारी करने की जरूरत न साबित हो जाय ।” (हिन्दी साहित्य का इतिहास, राचन्द्र शुक्ल, ना० प्र० सभा, पृ० ५११ पर अवतरित)

अस्तु, बाबू शिवप्रसाद जी के उक्त विचारों में कहीं इस बात का संकेत भी नहीं है कि ‘जबान उर्दू व खत फारसी को जो मुसलमानों की निशानी है मिटा दिया जाय’ बल्कि उनमें स्पष्ट कहा गया है कि भाषा ‘आमफहम और खाम पसंद’ हो। उसमें फारसी, अरबी, अंगरेजी आदि विदेशी भाषाओं के उन शब्दों का भी विधान हो जो ‘आमफहम’ हो गए हैं। फिर भी सैयद अहमद खाँ बहादुर उनपर लांछन लगाते और दिलेरी के साथ कह बैठते हैं कि वे ‘मुसलमानों की निशानी’ को मिटाना चाहते हैं। क्यों ? सबब इसका गौर से सुनिए—

“इंसान जब हर तरफ से मायूस हो जाता है तो मजहब की पनाह ढूँढ़ता है। मुसलमान दौलत व इकबाल, जाह व सर्वत सब कुछ खो चुके थे। एक मजहब रह गया था। इस लिये यह उन्हें और भी अजीब हो गया था। ज़रा सी बद-गुमानी पर भी उनके जज्बात भड़क उठते थे। उस वक्त शायद ही कोई ऐसा मुसलमान मुसन्निक या अदीब हो जिसने

मजहब पर कलम करसाई न की हो । यहाँ तक कि वह लोग जिन्हें मुसलमान नेचरी कहते थे और अपने रुयाल में बद-मजहब व बदअक्रीदह समझते थे उनका ओढ़ना बिछौना भी मजहब था । सर सैयद तो खैर उनके सरदार ही थे, उनके हलके के दूसरे रुकन भी मसलान् नवाब मुहसेन मुल्क, हाली, मौलवी मुस्ताक हुसेन, शिबली, चिराग अली, नजीर अहमद वगैरहुम रुवाह कुछ ही लिखते लेकिन तान मजहब ही पर टूटती थी ।” (तजकिरह मुहसेन, मुहम्मद अमीन जुबेरी, जामा बरकी प्रेस देहली, सन् १९३५ ई० पृ० २९५)

इस मजहबी तान को अच्छी तरह समझने के लिये हमें सर सैयद के निम्नलिखित उद्गारों पर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए और यह स्वतः समझ लेना चाहिए कि वास्तव में मामला क्या है और क्यों सैयद अहमद खाँ बहादुर उर्दू जवान और फारसी खत को ‘मुसलमानों की निशानी’ समझते हैं । उनका दावा है—

“इंग्लिश नेशन हमारे मफतूह मुल्क में आई; मगर मिस्त एक दोस्त के न बतौर एक दुश्मन के । हमारी रुवाहिश है कि हिंदुस्तान में इंग्लिश हुकूमत सिर्फ एक ज़मान ए दराज़ तक ही नहीं बल्कि इटर्नल होनी चाहिए । हमारी यह रुवाहिश इंग्लिश क्रौम के लिये नहीं है बल्कि अपने मुल्क के लिये । हमारी यह आरजू अंगरेजों की भलाई या उनकी खुशामद

की वजह से नहीं है बल्कि अपने ॐ मुल्क की भलाई के बेहतरी के लिये है। पस कोई वजह नहीं है कि हममें और उनमें सिम्पथी न हो। सिम्पथी से मेरी मुराद पोलिटिकल सिम्पथी नहीं है। पोलिटिकल सिम्पथी ताँबे के बरतन पर चाँदी के मुलम्म से ज्यादा कुछ बक्रअत नहीं रखती। उसका असर दोनों (फरीक) के दिलों में कुछ नहीं होता। एक फरीक जानता है कि वह ताँबे का बरतन है, दूसरा फरीक समझता है कि वह भूठे मुलम्म की कलाई है। सिम्पथी से मेरी मुराद बिरादरानः व दोस्तानः सिम्पथी है।' (हयात जावेद, सन् १९०१ ई०, द्वि० भाग, पृ० ५०, ५१ पर अवतरित)

प्रत्यक्ष ही है कि सर सैयद खाँ अंगरेजों की जिस सिम्पथी का उल्लेख करते हैं वह बिरादराना और दोस्ताना है याने वह वह सिम्पथी है जो कंपनी सरकार के सामने थी। हम

ॐ सर सैयद अहमद खाँ बहादुर अपने को 'अरब' कहते थे, पर क्या अरबों ने कभी हिंदुस्तान को सर किया? क्या किसी कोने में दीन की दुःई देकर नहीं पड़े रहे? अब रही मुसलमानों की बात। क्या कोई दिनेरी के साथ कह सकता है कि इंग्लिश नेशन को हिंदुस्तान मुसलमानों से मिला? दिल्ली का अंधा बादशाह किसकी दया पर जीवित था? हम तो नहीं समझते कि हिंदुस्तान कभी भी मुसलमानों का सचमुच 'मफतूह' बना। वह भी सर सैयदी उन मुसलमानों का, जिनका घर न जाने कहाँ है।

पहले ही कह चुके हैं कि आरंभ में अंगरेज देहली दरबार की ओर से शासन करते थे और फोर्ट विलियम कालेज में केवल अंगरेजी चर्च के उपासक ही अध्यापक हो सकते थे। अतएव यहाँ पर इतना भर संकेत कर देना चाहते हैं कि उसी शासन और उसी मजहब के नाते सर सैयद उक्त मिश्रणी चाहते हैं और हिंदुस्तान को उसी तरह उनके हाथ में रखना चाहते हैं जिस तरह सन् १८५७ के विप्लव के कुछ पहले देहली दरबार ने शाह ईरान के हाथ में देना चाहा था। इसी से सर सैयद का बराबर यह आग्रह रहा कि अंगरेज 'अह्लकिताब' हैं और उनके शासन के कारण हिंदुस्तान 'दारुल हरब' नहीं बल्कि 'दारुल इस्लाम' ही है। याद रहे कि इसी संबंध को पुष्ट करने के लिये सर सैयद ने इंजील और और कुरान की कुछ अजीब व्याख्या की और अंगरेजों तथा मुसलमानों को परस्पर दोस्त या बिरादर बनाया।

अब रही हिंदुओं की बगावत की बात। जरा उसे भी गौर से सुन लीजिए। देखिए उर्दू के अमर अदीब 'हयात जावेद' के लेखक मौलाना हाली क्या गवाही देते हैं। उनका पक्का बयान है—

“लिबास का मुत्तहिद होना क्रौमी एगानगत क बढ़ाने और मुगायरत के दूर करने में वैसा ही दखल रखता है जैसा जवान, नस्ल और मजहब का मुत्तहिद होना” (वही, प्रथम पृष्ठ ५४)

यदि यह ठीक और पते की बात है तो पाठक जरा ध्यान से

सुनें और देखें कि हवा का रुख किधर है। वही मौलाना हाली उसी जगह फरमाते हैं कि "अंगरखा, पात्रामः, टोपी, अमामः, पगड़ी या जूता गर्ज कि कोई चीज मुसलमानों के लिबाम में ऐसी नहीं है जिस पर कौमी खसूसियत का इत्तनाक हो सके। हिंदू मुसलमानों में पहने सिर्फ उलटे और सीधे परदह की तमीज थी मगर जब से अचकन का रवाज हुआ यह तमीज भी बाकी नहीं रही।"

तो फिर—

"इसी सबब से सर सैयद को हमेशा यह खयाल रहा है कि हिंदुस्तान के मुसलमान भी और कौमों की तरह अपने लिबाम में कोई खसूसियत और माव-उल-इम्तयाज पैदा करें। और चूंकि बकौल उनके आज हिंदुस्तान में कोई मुसलमान अथारिटी ऐसी मौजूद नहीं है, जो एक नेशनल लिबास इस्तरा करे और उसके रवाज देने पर जोर दे। इसलिये उन्होंने मुसलमानों की एक मुअज्जिजतरीन कौम याने तुर्कों का लिबाम अव्वल खुद एख्तयार करके कौम में एक मिसाल कायम की और फिर मुहम्मदन कालेज के बोर्डों के लिये उस कायदह के मुवाफिक जिसपर कुस्तुनतुनियः की दरसगाहों में अमल-दरामद है यूनीफार्म का कायदह जारी करने का इरादह किया।" (वही)

माराश यह कि सर सैयद ने उसी तरह 'इम्तयाज' के लिये एक नया बिलायती लिबास हिंदी मुसलमानों के लिये ईजाद

किया जिस तरह कि शाह हातिम ने इसलामी 'इस्तयाज' के लिये एक अलग जबान ईजाद की थी। याद रहे सर सैयद की यह सूझ मजहबी नहीं बल्कि पूरी 'इस्तयाजी' थी। 'इस्तयाज' के लिये ही उन्हें एक खास लिबास की चिन्ता हुई। यह लिबास 'अरबी' न होकर 'तुर्की' क्यों हुआ, इस पर पाठक स्वयं विचार करें और मौलाना हाली के उक्त कथन पर ध्यान दें। हाँ, सुभीते के लिये इतना और जान लें कि सर सैयद का सच्चा अभिमान और पक्का गर्व था कि

‘मैं मुसलमान हूँ। हिंदोस्तान का बाशिंदह हूँ और अरब की नस्ल से हूँ। इन्हीं दो बातों से कि मैं अरब की नस्ल से हूँ और मुसलमान हूँ आप समझ सकते हैं कि मजहब और खून दोनों के लिहाज से मैं सच्चा रोडिकल हूँ। अह्म अरब इस बात को पसंद नहीं करते कि बजाय इसके कि वह खुद अपने ऊपर हुक्मत करें, कोई और उनपर हुक्मत करे। इस वक्त तक अह्म अरब आजाद हैं और अपने मशायख के झंडों के नीचे रहते हैं। वह सुल्तान टर्की को सुल्तान नहीं कहते बल्कि अपने वीरान और पथरीले जजी-रहनुमा का खादिम समझते हैं। वह अपने आजादी को तमाम दुनिया की न्यामतों से बेहतर जानते हैं। ऊँट चराते हैं, जौ पर जिदगी बसर करते हैं, ऊँटनियों का दूध पीते हैं और अपनी आजादी में खुश रहते हैं।” (वही पृ० ३३३ पर अवतरित)

अरब होते हुए भी सर सैयद ने अरबी लिबास को एक-यार नहीं किया बल्कि अपने वंशगत अभिमान को चूर कर एक

निहायत विलायती लिबास का प्रचलन किया। उस विलायती लिबास को अपनाया जिसे आज भी तुर्की कहते हैं। क्यों? कारण सैयद सुलेमान साहब नदवी के मुँह से सुनिए और सर सैयद को सदा के लिये अच्छी तरह पहचान लीजिए। उन का कहना है—

“अरबों ने ख़ुलफ़ाय राशदोन और सहाबह कराम के ज़मानह में दौरान जंग के इत्तफ़ाकी वाक़आत को छोड़ कर जिन क़ौमों से मुआहदह किया या सुलह की उनकी इबादतगाहों को ठेस नहीं लगने दी। ईरान क़ आनशकदे वैसे ही ग़ेशन रहे। फ़िलस्तीन व शाम और मिस्र व इराक़ के गिरजे जो बुतों और मुज़स्सिमों से पटे पड़े थे वैसे ही नाक़ूसों की आवाज़ों में गूँजते रहे हालाँकि यह नवमुसलिम तुर्क फ़ातेह उनसे क़यादह दीन व मज़हब के पुरजोश ग़ाली और शरीअत के सच्चे पैरोकार न थे और न हो सकते थे।” (अरब व हिंदू के ताल्लुकात हिंदुस्तानी एकेडमी इलाहाबाद, सन् १९३० ई० पृ० १९१-२)

साफ़ जाहिर है कि सर सैयद को यदि दीन शरीअत या हिंदू मुसलिम एकता की चिंता होती तो वह अवश्य ही अपने बाप दादों की नीति पर चलते और तुर्की लिबास की जगह अरबी लिबास को मुसलिम लिबास करार देते और इस तरह बहुत कुछ हिंदू-मुसलिम एकता को बढ़ाकर उन्हें एकत्र कर देते। पर खेद है कि जान बूझ कर कूटनीतिबश उन्होंने ऐसा नहीं किया बल्कि प्रमादवश लिबास की बनी बनाई एकता को—उस

एकता को जिसमें मुसलिम शान बराबर कायम थी—इसीलिये मिटा दिया कि उस लिबासी एकता के कारण 'फातेह' और 'मफतूह' का सारा भेद मिट गया था और दोनों भाई-भाई नजर आ जाते थे। याद रहे तुर्कों और हिंदुओं का वैर बहुत पुराना है। इतना पुराना कि वह मुहम्मद साहब क्या मसीह से भी बहुत पहले से चला आता है। 'खैबर वाली क्रौमों ने' भारत को कब गारत नहीं किया ? उन्हीं 'खैबर वाली क्रौमों' को इसलाम का पेशवा या धर्मध्वज समझ लेना ठीक नहीं। क्या उन्होंने अपने ही क्रौम के हिंदी मुसलिम शासकों को बरबाद नहीं किया ? क्या कल के 'फातेह' मुसलिम आज 'मफतूह' नहीं बने और आज के 'फातेह' मुसलिम कल 'मफतूह' नजर नहीं आए ? यदि हाँ तो सर सैयद का यह दर्प कैसा ? किस मुँह से वह भारत को अपना 'मफतूह' मुल्क कहते हैं और हिंदू-मुसलिम एकता को छिन्न-भिन्न कर एक अजीब इत्तहाद खड़ा करना चाहते हैं ? हम तो इस सरसैयदी 'फातेह' और 'मफतूह' की हरकत को इसलाम या दीनपरस्ती नहीं समझते। यदि कुछ लोग इसे इसलाम का सच्चा पाठ समझते हैं तो समझा करें। उनका मत इसलाम नहीं, चाहे कुछ और हो। अच्छा हो यदि आप सैयद सुलेमान साहब सरीखे मुसलिम मर्मज्ञ के उक्त अवतरण पर ध्यान दें और याद रखें कि सौभाग्य से हमारे देश में ऐसे भी इसलामी सपूत हैं जो मुसलमानों की भरी सभा में दिलेरी और शान के साथ दावा कर सकते हैं कि

“साहबान ! हिंदू और मुसलमानों के बाहम चोली दामन का ताल्लुक है जो किसी तरह जुदा नहीं हो सकते । हमारी क़ौम के पाँच करोड़ लोगों में से मेरे ख़याल में फ़ी सदी पंचानबे ऐसे शख्स होंगे जिनका खून खाक हिंदू से पैदा हुआ है । साहबान, किसी मुहज़ज़ब मुल्क, मुहज़ज़ब क़ौम में मज़हब या मशरब इंसानी हमदरदी को छोड़ नहीं सकता ।

“मेरी आरज़ू है कि तमाम क़ैसरी रिआयाय हिंदू सिर्फ़ अपने मज़हबी मामलों में तमीज़ हो सकें । हिंदू मंदिरों और शिवालों में ईसाई चर्च और गिरजों में मुसलमान मस्जिदों और ख़ानकाहों में; मगर इन मुतबर्क मकानों से बाहर तमाम भाई भाई हों । और जब तक हुब्ब वतनी का जोश इस दरजः तक न पहुँचेगा

❧ खाक हिंदू से पैदा होने वालों में से आज कितने हैं जो खाक हिंदू को पाक या अपनी जान समझते हैं ? यदि अपने को मुसलिम कहने वाले लोग खाक हिंदू की इस ख़सूसियत को समझते और अपनी आन पर क़ुरबान होना जानते तो बहुत कुछ आज का विषैला वातावरण दूर हो जाता और उनके सामने उसी रूप में अपने आप ही हिंदू आ जाता जिस रूप में तुर्कों के सामने उनका देश आ रहा है अथवा जिस रूप में ईरानी आज ईरान को अपना रहे हैं । पर यहाँ तो ‘खाक हिंदू’ ही से नफरत होती जा रही है, फिर उसकी शान कहाँ ? उसके पेड़ पौधों से प्रेम कहाँ ?

कि कटरीमेन की इज्जत को अपनी इज्जत समझें तबतक हाफ-सिवलाइज का कलंक हमसे दूर नहीं होगा। क्योंकि हम और हिंदू एक ही खाक हिंद की पैदाइश हैं।” (खुतबात आलियः हिस्सः अव्वल, मुसलिम यूनिवर्सिटी प्रेस अलीगढ़, सन् १९२७ ई०, पृ० ५४-५ सन् १८९० ई० का व्याख्यान)

वज्रपात तो यह देख कर होता है कि सर सैयद अहमद खां बहादुर ने केवल हिंदू-मुसलिम की बनी बनाई लिबासी एकता को ही मटियामेट नहीं किया, बल्कि सरदार मुहम्मद हयात खां के ‘हम और हिंदू एक ही खाक हिंद की पैदाइश हैं’ को भी सदा के लिये मिटा दिया। जरा देखिए तो सही, किस शान और तपाक से क्या फतवा देते हैं। उन का दावा यह है—

“मुसलमान इस मुल्क के रहे रहने वाले नहीं हैं। आला या

❀ मुसलमान किस मुल्क के रहने वाले हैं, इसका पता सर सैयद ने कहीं नहीं दिया। हाँ, अपने को बार बार अरब अवश्य कहा। अरब होने के नाते उन्हें इसलाम का जो अभिमान था वह मजहबी नहीं बल्कि ‘इस्तियाजी’ या ‘नेचरी’ था। नेचरी होने का ही यह नतीजा था कि वह ‘रसूल’ से अपना जाती संबंध जोड़ते थे और मुहम्मद साहब को ‘दादा’ कहा करते थे। पर उनके इस अभिमान का इलाज न हो सका। उलटे और बहुत से लोग अपने आप को अरब सिद्ध करने लगे! गोया अर्श को आसमान से जमीन पर उतार लिया और सारा अरब पाक हो गया।

औसत दरजह के लोग अपने मुल्क से यहाँ आकर आबाद हुए। उनकी औलाद ने हिंदुस्तान की बहुत सी जमीन को आबाद किया और कुछ यहाँ के लोगों को जो इस मुल्क की अदना कौमों में से न थे, अपने साथ शामिल कर लिया। पस वह निहायत अदने दरजह की कौमें जो अब तक इतबार इंसानी से भी स्मारिज हैं और निहायत कसीर हैं, हिंदुओं की मर्दम-शुमारी में शामिल हैं। मगर इस क्रिस्म को कोई कौम मुसलमानों की मर्दमशुमारी में दाखिल नहीं है।” (रुयदाद इजलास, मेडिकल हाल प्रेस, बनारस सन् १८७२ ई० पृ० ४)

सर सैयद अहमद खाँ की इस शिक्षा का प्रभाव यह पड़ा कि मुसलमान इस देश में अपने को विदेशी समझने लगे और फलतः उनकी सहानुभूति भी इधर से मुड़ कर उन आततायी विदेशियों के प्रति हो गई जिन्हें अल्लामः सैयद मुलेमान साहब नदवी ने ‘खैरवाली कौमें’ कहा है। आज बहुत से पढ़े लिखे मुसलमान क्या सचेत हिंदू भी जो सिकंदर को मुसलमान कह बैठते हैं उसका प्रत्यक्ष कारण यही है। आज ‘मुसलमान’ का अर्थ हो गया है ‘फातेह’ और ‘हिंदू’ का मतलब समझ लिया गया है ‘मफतूह’। ‘फातेह’ और ‘मफतूह’ की यह ‘इस्तयाज’ हमारे राष्ट्र जीवन का वह घुन है जिसने भीतर ही भीतर हमारी राष्ट्र-निष्ठा को खा लिया है, हमारे जीवन की सार-सत्ता को नष्ट कर दिया है और राष्ट्रभाषा के प्रश्न को हमारे लिये निक्क ‘मार्च’ बना दिया है। प्रमाद और व्यामोह के कारण हम आपस

में ही जूझ रहे हैं। हमारे लिये कुरान शरीफ का यह आदेश अरण्य रोदन हो रहा है। 'इस्तयाज' ने दीन और मजहब को दबा लिया है। मजहब 'कहता है—

“ व मा अरसलना मिन् रसूलिन् इल्ला बेलेसाने क्रौम ही”
(सूर: इब्राहीम की आयत ४) याने “और हमने तमाम (पहले) पैगम्बरों को (भी) उन्हीं को क्रौम की ज़बान में पैगम्बर बना कर भेजा है।” (मौलाना अशरफ अली थानवी)।

पर 'इस्तयाज' भड़काती है—

“वह (मुसलमान) जहाँ जाते थे अपनी ज़बान और अपना इल्म ❀ अदब अपने साथ ले जाते थे। जिस तरह इस्पेन में जाकर उन्होंने इस्पेनिश ज़बान या ईरान में ज़ंद ज़बान नहीं सीखी, उसी तरह हिंदुस्तान में आकर इस मुल्क की ज़बानों के सीखने को तरफ़ तबज्जह नहीं की और इसीलिए ग़ैर ज़बानों के सीखने की फ़ी अल्-बाका उनमें क़ाबिलियत न

❀ यदि मोलाना हाली का यह फरमाना बिल्कुल बजा है तो 'तिब' और 'फ़तुमफ़.' इसलाम में किधर से आ गए ! अरस्तू और अफ़ज़ातून कहाँ के इसलाम के कायल थे ? भई, सच्ची और खरी बात तो यह है कि इस तरह की लचर और मनहूस दज़ालें हिंदी मुसलमानों को ही सूझती और पसंद आती हैं। क्योंकि यही उनका स्वभाव सा हो गया है। दुनिया के सच्चे और स्वतंत्र इस्लाम की आँखें सदा खुली रही हैं हिंदुस्तानी इस्लाम की तरह बंद नहीं।

रही थी।” (हयात जावेद, वही पृ० ७४ द्वि० भाग)

उर्दू के अमर अदीब मौलाना हालत ने क्या कह दिया ।
‘हिंदुस्तान में आकर इस मुल्क की ज़बानों के सीखने की तरफ़
तवज़्जह नहीं की ?’ तो फिर इस मुल्क को ‘मुल्की ज़बान उर्दू’
उनकी ‘मादरी ज़बान’ कैसे हो गयी ? क्योंकि और किस
बृते से उन्होंने घोषणा कर दी कि—

“खुद देहली में भी फ़मीह उर्दू सिर्फ़ मुसलमानों ही की
ज़बान समझी जाती है । हिंदुओं की सोशल हालत उर्दू-ए-
मुअल्ला को उनकी मादरी ज़बान नहीं होने देती ।”

किनकी ? उन्हीं हिंदुओं की, जिनके मुल्क में आकर मुसल-
मानों ने उनके मुल्क के ज़बानों के सीखने का कष्ट नहीं किया
और ज़बरदस्ती अंगरेजी के दबाव में आ जाने से अब जिन्हें
उर्दू का धनी बनाने जा रहे हैं । हैरान न हों । अभी भाषा के
इस क्षेत्र में बहुत कुछ आपको देखना है और बहुत से हिंदू
बुजुर्गों को सचेत कर देना है कि दर हकीकत उनकी मादरी
ज़बान मुस्तनद उर्दू नहीं, और चाहे जो कुछ हो । ‘मुस्तनद
उर्दू’ तो ‘इम्तयाज़ी’ लोगों की मादरी ज़बान है जो ‘शाह’
नहीं तो शाही शान के गुलाम जरूर हैं । रही मुल्की लोगों की
ज़बान । वह तो अवश्य ही ‘भाका’ या खड़ी हिंदी है जो नीति-
वश आज उर्दू बताई जा रही है ।

इम्तयाज़ी लोगों ने जहाँ एक ओर देशभाषाओं का विरोध
किया वहीं दूसरी ओर दिलपरस्त सूफियों ने उनका गुणगान ।

जो लोग हिंदी-उर्दू-बिवाद को कल की चीज समझते हैं, उन्हें अपनी समझ का जल्द इलाज करा लेना चाहिए और अच्छी तरह यह जान लेना चाहिए कि 'इम्तियाजी' लोग सदा से हमारी देशभाषा हिंदी का विरोध करते आ रहे हैं। यदि विश्वास न हो तो कम से कम एक बार उन दीनदार मुसलमानों और प्रेमपरस्त सूफियों से मचाई के साथ पृष्ठ देखिए कि उन्होंने अपनी पोथियों में क्या लिखा है और किस तरह हिंदी के लिये जी जान से पैरवी की है। दूर की बात जाने दीजिए। अभी उस दिन की बात लीजिए जिस दिन भागती हुई फारसी की रक्षा के लिये देहली दरबार उर्दू की एक नई टुकसाल कायम कर रहा था और जनता हिंदी पर फिदा हो रही थी। मुसलिम जनता के इस हिंदी-प्रेम से व्यथित होकर इम्तियाजी लोग 'फारसी' का पल्ला खूब जोर से पकड़ रहे थे और हिंदी की घोर निंदा में लगे थे। पर दीन के सच्चे सपूत उनके हाथ नहीं आते थे, उलटे और भी दिलेरी तथा हिम्मत के साथ साफ साफ समझाते थे कि—

“हिंदी पर ना मारो ताना, सभी बतावैं हिंदी माना।

यह जो है कुरआन खुदा का, हिंदी करैं बयान सदा का।

लोगों को जब खोल ॐ बतावैं, हिंदी में कह कर समझावैं।

ॐ 'तारीख ग़रीबी' के लेखक ने स्पष्ट कर दिया है कि दीन के सच्चे सपूत 'सीधी बोली' याने हिंदी का प्रयोग क्यों करते हैं और क्यों 'इम्तियाजी' या 'सयासी' लोग उसका

जिन लोगों में नबी जो आया, उनकी बोली सों बतलाया ।
हिंदी मेहदी ने फरमाई, खूद मीर के मुँह पर आई ।
कई दोहरे साखी बात, बोले खोल मुबारक जात ।
भियाँ मुस्तफा ने भी कही, और किसी की फिर क्या रही ?”

और—

“लिखा निपट कर सीधी बोली, जो कुछ गठरी थी सो खोली ।
समझें सारे खास अराम, मूरख चतुर सुघर नर बाम ।
पहुँचै सबको नफा नसीबी, नाँव रखा तारीख गरीबी ।
ग्यारा सै चौसठ पर बनी, पूरी करी फजल कर धनी ।”

‘तारीख गरीबी’ के लेखक ने नबियों की कथा को जिस भाषा में लिखा है वह हिंदी है । उसका नाम भी हिंदी ही कहा गया है । उसके विचार में यह वह हिंदी है जिसे ‘सारे खास अराम, मूरख चतुर’ अच्छी तरह समझ सकते हैं । याने यह उसकी दृष्टि में आमफहम हिंदुस्तानी है । याद रखना होगा कि यह हिंदी वस्तुतः वही हिंदी है जो उस समय मुसलमानों की ‘आम फहम’ ज़बान थी । उत्तरी भारत के मुसलमान इसी को विरोध या उमके प्रतिकूल जेहाद करते हैं । आज भी परिस्थिति बहुत कुछ यही है । ‘लीग’ मजहबी लोगों की संस्था नहीं बल्कि इम्तियाज़ी लोगों की एक मंडली का नाम है जिसे मजहब से उतना ही काम पड़ता है जितना किसी ट्रेन का भंडी से । ‘तारीख गरीबी’ की भाषा मुसलिम राष्ट्रभाषा है न कि जनाब हातिम की ‘ख़ासपसंद’ ज़बान ।

यहाँ की 'सीधी बोली' कहते थे। साथ ही, यह भी याद रहे कि देहली में उस समय 'हातिम' का बोलबाला था और वहाँ 'वली' के 'दक्खिनी कलाम' के आधार पर फारसी-तर्ज पर दरबार की जवान याने उर्दू में भी रचना आरंभ हो गई थी। शाह हातिम ने स्वयं किस तुर्रे के साथ लिख दिया है कि—

“सिवाय आँ, जवान हर दयार, ता बहिंदवी, कि आँ रा भाका गोयंद मौकूफ नमूदः, फकत रोजमरः कि आमफहम व खासपसंद बूदः, एखितयार करदः।” (दीवानजादः का दीवाचः १७५१ ई०)

कइने का तात्पर्य यह कि शाह हातिम ने 'तारीखः ग़रीबी' की प्रकृत भाषा तथा शैली दोनों का वहिष्कार कर दिया और तत्कालीन रचना-पद्धति को छोड़ एक विदेशी पद्धति को ग्रहण कर, 'सीधी बोली' को बिल्कुल बदल कर उसे दरबारी याने उर्दू बना दिया और फारसी के तर्ज पर चलने के लिये उसे सब तरह से मजबूर कर दिया। फिर क्या था, इस्तियाजी लोगों को मुँहमाँगा वर मिला और राष्ट्रभाषा हिंदी पर दिन-दहाड़े प्रहार होने लगा। देखते ही देखते उर्दू मुसलमानों की अदबी जवान मजलिस में छा गई और हिंदी को दरबारों से बहुत दूर खदेड़ दिया। फिर भी इन शाही दरबारों से हिंदी का उतना अहित न हो सका। कारण प्रत्यक्ष था। क्या देहली और क्या लखनऊ किसी भी दरबार में उर्दू मनबहलाव या शाही मजाक से आगे न बढ़ सकी थी। हिंदी का सर्वनाश तो तब शुरू हुआ जब

वह देहली और लखनऊ से खसक कर शाही सरकार के सहारे फोर्ट विलियम में पहुँच गई और वहाँ अपना रागरंग जमाकर अंगरेजों को फुसलाने लगी ।

लोग कहते हैं कि डाक्टर गिलक्रिस्ट ने हिंदी को उबार लिया । तथ्य कहता है कि डाक्टर ❀ गिलक्रिस्ट ने हिंदी को डूबा दिया । बयान स्वयं डाक्टर गिलक्रिस्ट का यह है—

“In the Hindoostanee, as in other tongues, we might enumerate a great diversity of styles, but for brevity's sake I shall only notice three here, leaving their sub-divisions to be discussed along with the history of the language, which has been reserved for the second volume. 1st, The High court of Persian style, 2nd, the middle or

❀ अब वह समय आ गया है कि हम डाक्टर गिलक्रिस्ट का स्वतंत्र अध्ययन करें और यह प्रत्यक्ष दिखा दें कि उनका उर्दू साहित्य पर कितना ऋण है । याद रहे कि यदि फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना न होती और डाक्टर गिलक्रिस्ट उर्दू को अपना न लेते तो आज उर्दू कभी इस रूप में देखने को न मिलती और व्यर्थमें रोमन लिपि की पैरवी भी न की जाती । सच पूछिए तो डाक्टर गिलक्रिस्ट की सबसे बड़ी देन है रोमन लिपि और उर्दू नस्ल, न कि नागरी लिपि और नागरी भाषा ।

genuine Hindoostanee style, 3rd the vulgar or Hinduwee.

In the more elevated poems of souda, Wulee, Meerdurd, and others, and in the affected pompous, pedantic language or literature and politics, the first is predominant, and leans to Arabic and Persian agreeably to circumstances.

The elegy of Miskeen, the satires of Souda, Hindoostanee Tales, and the Articlās of War in the Oriental Linguist, the speech of well-bred Hindoostanee Monshees and servants are the best specimens I can recollect of the middle style, while the 3rd or Hinduwee is evident in Mr. Foster's unaffected translations of the Regulations of Government, in all or the greatest part of Hindoostanee compositions written in the Nagree character, in the dialect of the lower order of servants and Hindoos, as well as among the peasantry of Hindoostan.....The Preference which I give the middle style over the others must appear in every page of my works, as it is in truth central regulator or tongue by which we

perceive the ascending and descending scales on either side.....As the language is still fluctuating and unsteady, it will be found difficult, if not impossible, to avoid the extremes to which it is constantly exposed in a country especially, where pedantry, so far from being decried, is esteemed as the touchstone of learning, and where, on one hand, tho learned Moosalman glories in his Arabic and Pesian, and, on the other, the Hindoo is no less attached to his Sunscrit and Hinduwee" (Appendix to Gilchrist's Dictionary.)

डाक्टर गिलक्रिस्ट की उक्त गवाही से स्वतः स्पष्ट हो जाता है कि कभी उन्होंने उस व्यापक लोकभाषा को महत्त्व नहीं दिया, जिसका प्रचार सर्व सामान्य में था और जिसका सत्कार कंपनी सरकार ने 'तमामी आदमी के बूझने के वासते' अपने विधानों या आईनों में किया था। क्यों ? कारण प्रत्यक्ष है। न्यायनिष्ठा के नाते उन्हें मध्य मार्ग ही पसंद है। ठीक है। हम भी इसी मध्य मार्ग के कायल हैं। पर हम अभी यह समझ लेने में अममर्थ हैं कि डाक्टर गिलक्रिस्ट की 'मुंशी शैली' ही हमारी 'मध्य शैली' है। क्योंकि डाक्टर गिलक्रिस्ट स्वतः कहते हैं कि उन्होंने जिस शैली का प्रतिपादन किया है वह 'मिसकीन के मरसिया', 'सौदा की हजो' और पढ़े लिखे शिष्ट

हिंदुस्तानी मुंशियों और नौकरों की भाषा है। याने वह किसी तरह की लोकभाषा न होकर एक तरह की इल्की दरबारी और किताबी भाषा है। वह दरबार की फारसी शैली से टक्कर नहीं ले सकती, पर रहती सदा उन्नीके साथ है। वह सच्ची शाही ज़बान नहीं, पर है उसी की कैद में। अफमोस ! फिर भी उसे डाक्टर गिलक्रिस्ट हिंदुस्तानी कहते और उसे 'हिंदवी' याने सच्ची हिंदुस्तानी पर तरजीह देते हैं। कारण ? कारण आप के सामने खड़ा है। वह पुकार पुकार कर कहता है कि डाक्टर गिलक्रिस्ट उन सरकारी साहबों के उस्ताद हैं, जिन्हें शाही सरकार के अधीन रहकर फारसी में राजकाज करना है और एक ऐसी भाषा को जल्द मीख लेना है, जिसमें फारसी पढ़ने में सहूलियत हो और दरबारी लोगों से बात-व्यवहार करने में कोई अड़चन न हो। इसी से हम कहते हैं कि डाक्टर गिलक्रिस्ट ने प्रमादवश वह रास्ता निकाल दिया जिसपर चलकर अंगरेजी सरकार ने धीरे धीरे हमारी राष्ट्रभाषा और राष्ट्र लिपि हिंदी को सर्वथा चौपट कर दिया और कचहरियों तथा सरकारी दस्तखतों से कान पकड़ कर बड़ी बेरहमी से हिंदी को, उस हिंदी को निकाल बाहर किया जो कभी मुगल सम्राटों की भी मुँह लगी थी और जो मुसलमानों की प्यारी 'मादरी ज़बान' थी। जिसके लिये वे कट्टर फारसी-परस्तों से लड़ जाते और गर्व के साथ दावा करते थे कि—

“हिंदू मग पर पाँव न राख्यों, का जौ बहुतै हिंदी भाख्यों ?

मन इसलाम मसल कै मान्यों, दीन जेवरी करकस भाज्यों ।
जहाँ रसूल अल्लाह पियारा, उम्मत को मुक्तावन हारा,
तहाँ दूसरा कैसे भावै, जच्छ-असुर-सुर काजन आवै ।” ❀

किंतु, वहाँ न, जहाँ अल्लाह का प्यारा रसूल घर कर चुका हो ? न कि वहाँ, जहाँ ‘शाही शान’ रातदिन सताए जाती हो और मिरामो ‘इस्तयाज’ पल भर भी चैन न लेने देती हो । वहाँ तो बस हिंदी का विरोध ही सच्चा इसलाम अजम है ? ‘इस्तयाज’ ही इसलाम की सच्ची सीख है ?

देहली और लखनऊ की देखा देखी फोर्ट विलियम कालेज ने भी किस तरह ‘चुन चुन कर’ गिलक्रिस्टी किताबों से भाषा और संस्कृत के ठेठ शब्दों को निकाल फेंका और उनकी जगह अरबी और फारसी के बाहरी शब्दों को जमा कर डाक्टर गिलक्रिस्ट की मिली-जुली ‘मुंशी शैली’ को शुद्ध और खरी ‘दरबारी’ शैली याने ‘उर्दू’ बना दिया, इसका कुछ सकेत हम

❀ यह अवतरण ‘अनुराग बांसुरी’ नामक एक अकाशित रचना से लिया गया है । ‘अनुराग बांसुरी’ के लेखक हैं श्री नूरमुहम्मद सबरहदी । नूरमुहम्मद ‘कामयाब’ के नाम से फारसी में भी अच्छी रचना करते थे और हिंदी में भी उनके दो और प्रबंध काव्य हैं । नूरमुहम्मद की इन्द्रावती का बहुतेा को पता है । उनकी एक रचना ‘नलदमन कहानी’ भी है । अनुराग बांसुरी का रचना काल सन् १७६४ ई० (११७८ हि०) है ।

पहले ही कर चुके हैं। यहाँ हम इतना और दिखा देना चाहते हैं कि फोर्ट विलियम सरकार ने ठीक यही गति विधान में प्रचलित और परंपरागत न जाने कितने भाषा तथा संस्कृत शब्दों की की। उदाहरण के लिये चिरपरिचित 'स्थावर' तथा 'जंगम' शब्दों को लीजिए। यदि आप प्रसंग आने पर कहीं कचहरी में आज इसका नाम ले लें तो सर तेजबहादुर सपू जैसे विश्व-विश्रुत वकील घबरा उठेंगे। पर यदि आप उस समय की आईन को देखने का कष्ट करेंगे जब अदालतों में उर्दू का नाम तक न था और नागरी का चारों ओर प्रचार था तो आपको अवश्य अवगत हो जायगा कि वस्तुतः भूल और और अज्ञान कहाँ है। देखिए—

“अगर कोई मालिक जमीन अपने मीलकिअत का जाएदाद बेतरह तसरुफ ईआ खरच करै तब ईस बात ईआ और बाबन में अगर बुरड रेवनु के माहेब लोग मोनासिब जान ही गवरनर जनरल ईन कौमल को ईस बात का सलाह देहीगे के बाकी के अदाए के वास्ते बाकीदार का जमीन बिकरी आईन के जिसके बमौजिब उन सभो का असथावर वो जंगम माल बीकरी के लाएक है बिकरी कीआ जाऐ।”

(अंगरेजी सन् १८०३ साल २७ आईन १७ दफा ५ तफसील)

हो सकता है कि आजकल के न्यायनिष्ठ महात्माओं को इस अवतरण में द्वेष या हठधर्मी अथवा सांप्रदायिकता की गंध आती हो। इसलिए उचित यह जान पड़ता है कि यहाँ

कुछ उन शब्दों पर विचार करें जो शाही शान के द्योतक तथा 'मुसलमानों की निशानी' ही नहीं बल्कि 'मुश्तरकः' या 'मुल्की जवान' के निजी शब्द हैं और आज भी नजीबों के व्यवहार में हैं। जनाब गालिब फरमाते हैं—

“नक्श फरियादी है किसकी शोस्त्री-ए-तहरीर का
कागज़ी है पैरहन हर पैकरे तसवीर का।”

यह फरियादी है क्या बला ? जरा इसे भी मिरजा गालिब के ही मुँह से सुन लीजिए—

“ईरान में रस्म है कि दादरुवाह कागज़ के कपड़े पहन कर हाकिम के सामने जाता है।.....पस शाइर खयाल करता है कि नक्श किसकी शोस्त्री ए-तहरीर का 'फरियादी' है।” (ऊद् हिंदी, पत्र संख्या १३८)

फोर्ट विलियम की अंगरेजी सरकार ने पहले इसी 'फरियादी' शब्द को ग्रहण किया और नागरी के विधान में लिखवाया कि —

“जिस बख्त वकील फरियादी ईश्वा असामी के तरफ से कोई मोकदिमा के सवाल वो जवाब का काम अपने जिमा करै उस फरियादी ईश्वा असामी को चाहिश्चै कि उस वकील को चारी आना बेआने के तरफ से देवै के उअह वकील उसके लेने के सबब से उसी मोकदिमा के तरफसानी के सवाल वो जवाब का काम कबूल नहीं करै वो उस वकीलको चाहिश्चै के उस बेआना के लेने पर उसका रसीद उसके पावने के तारीख के

ठेकाने में लिख देवै ।” (अँगरेजी सन् १८०३ साल १० आईन ६ दफा)

चकराने की बात नहीं है । ‘उर्दू’ के यहाँ यह ‘असामी’ भी मौजूद हैं । जरा गौर के साथ मुलाहिजा तो फरमाइए । मौलाना हाली कैसी नज़ोर पेश करते हैं । उनका कहना है

“सुना है कि जिन दिनों बंगाल में बहाबियों की तहकीकात और तलाश हो रही थी । एक यूरोपियन मुअज्जिज़ अफसर से जो इसी काम पर मामूर था रेल में सर सैयद से मुठभेड़ हो गई । दोनों आग्रह जाते थे और सर सैयद को किसी जरियः से मालूम हो गया था कि यह अफसर बहाबियों की तलाश पर मामूर है । उस अफसर ने उनसे पूछा कि आपका क्या मजहब है ? उन्होंने कहा कि बहाबी मुसलमान हूँ । फिर उसने सर सैयद का सारा पता दरियाफ्त किया । उन्होंने सही

❀ बहाबियों का व्यापक आंदोलन कितना प्रबल हो उठा था, इसका कुछ पता उक्त अवतरणसे चल जाता है । आश्चर्य तो यह देख कर होता है कि हमारे राष्ट्रभक्त नेता इस धार्मिक अथवा सांप्रदायिक आंदोलन या उपद्रव के मूल में पैठना नहीं चाहते, बल्कि उल्टे सहसा कह बैठते हैं कि इसका सूत्रपात स्वामी दयानंद सरस्वती अथवा हिंदुओं ने किया । उन्हें एक बार सर सैयद अहमद खाँ की किताब ‘असबाब बगावत’ को पढ़ लेना चाहिए । भ्रम आप ही दूर हो जायगा ।

सही बयान कर दिया। जब रेल आगरह में पहुँची दोनों उतर कर अपने अपने ठिकाने चले गए। फिर सर सैयद बटन साहब कमिशनर आगरह से मिलने को गए। इतफाक से वह अफसर उन्हीं के यहाँ ठैरा हुआ था और उनसे जिक्र कर चुका था कि इस हलिय और इस नामका एक वहाबी मुसलमान फ़लाँ जगह ठैरा हुआ है। अब साहब कमिशनर ने अफसर मजकूर को बुलाकर कहा कि लो यह तुम्हारे असामी हाज़िर है। जब उनको मालूम हुआ कि यह शख्स बावजूद वहाबी होने के बड़ा खैर-ख्वाह सरकार है तो उसे निहायत ताज्जुब हुआ और सब बहुत देर तक इस बात पर हँसते रहे।” (हयात जावेद प्रथम भाग पृष्ठ १८३ नोट)

‘फ़रियादी’ तथा ‘असामी’ की इन शिष्टता और इस व्यापकता को ध्यान में रख कर थोड़ा यह भी देखिए कि आखिर क्यों उन्हें कचहरियों में आज जगह नहीं दी जाती। क्या वे शुद्ध भाषा या संस्कृत के बनावटी शब्द हैं? नहीं, बात यह है कि आज वे आमफहम और आमपसंद होने के नाते अपनी ‘इस्तयाज़ी’ प्रतिष्ठा खो चुके हैं। उनके उच्चारण में कोई ऐसी तमीज नहीं रही कि आप आसानी से उनका उच्चारण न कर सकें। उनको लिख लेने में भी आप आजाद हो गए हैं। उनको पढ़ने लिखने के लिये किसी मौलवी को ‘सही’ नहीं चाहिए। अब आप ही कहें, इस्तयाज़ी लोग उन्हें क्योंकर पसंद कर सकते हैं? रही अंगरेजी सरकारकी न्यायनिष्ठा! उसके भी फूलने

फलने के लिये अत्यंत आवश्यक है कि आप में 'इस्तयाज' बनी रहे, आप कभी एक न हो सकें। निदान अंगरेजी सरकार के लिये आवश्यक हो गया कि वह सब तरह से इस्तयाजी लोगों को सराहे और उनकी इस्तयाज को बहाल करने के लिये कुछ शीन काफ का लिहाज रखे। उसकी सच्ची राजभक्ति ने उसे विवश कर दिया कि वह भाषा की एक ऐसी टकसाल कायम करे जो न अरब की हो और न ईरान की; बल्कि उन कट्टर काजियों और कठमुल्लाओं की हो जो सदा से इस्तयाजी लोगों के उस्ताद रहे हैं और समय समय पर बराबर यह पाठ पढ़ाते आ रहे हैं कि 'इस्तयाज' ही जीवन का लक्षण है। यह इसी इस्तयाज की कृपा है कि हमारे 'लाल' 'प्रसाद' और 'जाति' वहाँ 'लाल' 'प्रशाद' और 'जात' हो गए। 'फिरकः' का 'जात' का पाक नाम दे दिया पर उसे कभी 'जात' के रूप में ग्रहण न किया। फिर भला, 'फरियादी और 'असामी' को क्यों कचहरियों में रहने देते ? उनके रहते हुए उन्हें कचहरी में 'सही' के लिये पूछता कौन ? 'फरियादी' और 'असामी' में अरबियत कहाँ हैं ? अरबियत का राज्य देखना हो तो 'मुद्ई' और 'मुद्दालेह' ❀

❀ डाक्टर क्रादिरि का इस प्रसंग में कहना है कि 'इस वक्त ऐसे सद्दा कानूनी अल्फाज बन गए जो आज आम-तौर पर बोले और समझे जाते हैं। खुद कानून गालिबन इसी ज़मानः की एखतरा है। इसके अलावह मुस्तगीस, मुद्ई, समन, अज़ालः, हैसियत, अज़फ़ी और इस कबील

को लो और बात बात में मौलवी साहब को जबान की अदा पर कुरबान हो । जो जान से मर मिटो पर कभी तुम्हारा लेहजः मकबूल न हो ।

हाँ, तो फोर्टविलियम सरकार ने मुनासिब समझा कि शाही सरकार की 'फरियादी' और 'असामी' की दुगली जोड़ी को छोड़ कर 'मुद्दे' और 'मुहालेह' को शुद्ध अरबी जोड़ी खड़ी कर दी जाय और कुछ दिनों में साफ-साफ दिखा दिया जाय कि वह तो हमारी प्रभुता का प्रसाद है कि यहाँ शासन-व्यवस्था इस रूप में स्थापित हो पाई है, और हमों एक ऐसे शासक हैं जो 'शाह' की मजहबी जबान का इतना लिहाज करते हैं । यदि फोर्टविलियम की नीति शाही जबान के प्रतिकूल होती तो उसकी राजभक्ति में कमी आती और जनता भी आपस में मिलजुल कर एक ऐसा ठोस रूप धारण कर लेती जो उसके लिये सर्वथा अभेद्य होता । फिर तो उसका विनाश ही निश्चित था । निदान उसने निश्चित कर लिया कि यदि इप देश को अपने अधीन रखना है और इससे रत्न लेकर अपने भूखे जनों का पेट भरना है तो यहाँ की जबान को जबान ही न रहने दो; कुछ ऐसा करतब कर दिखाओ कि

के अक्सर अल्काज इसी दौर की पैदावार मालूम होते हैं" (उर्दू के असालीब बयान, पृ० ५९) । अब आप स्वतः सोच सकते हैं कि हमारी राष्ट्रभाषा की टकसाल कहाँ है ? कलकत्ता, लंदन या अरबी दिमाग में ?

बोलते तो ये बराबर रहें पर बोल कुछ भी न पाएँ । इनका सारा जीवन जबान की दुरुस्ती में ही बीत जाय और अंत में ये कहीं के न रह जायें ।

हुआ भी ठीक यही । अँगरेजी सरकार की नीति बन आई और फारसी की जगह एक ऐसी अजीब जबान चल निकली जिसका नाम दरबारी से हिंदुस्तानी हो गया । अब उसी को देशभाषा के नाम पर पालपोस कर पुष्ट किया गया । पर इस प्रकार की बिल्कुल एक अजनबी भाषा से जनता का पेट नहीं भर सकता था । उससे तो उन्हीं लोगों का पालन पोषण हो सकता था जो कचहरी के कीड़े कहे जा सकते हैं और 'साधु-वेश' में किसी भी 'चोर-भाषा' से काम चला सकते हैं । पर जिन लोगों का संबंध कुछ शिक्षा से था और जिनके हृदय में कुछ लोकहित की चाव थी, उनसे यह कभी देखा न गया और वे समय समय पर इसका विरोध भी करते रहे । सरकारी कर्मचारियों में भी कुछ ऐसे जीव थे जो पेट के प्रश्न को उतना महत्त्व न देते थे जितना अन्य लोग । उन्हें कुछ इसकी भी चिंता थी कि लोग देशभाषा के द्वारा अपना मार्ग प्रशस्त करें और लोकभाषा में उनकी शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध हो, पर इम्तियाजी जोश, मजहबी मेल और कूटनीति के कारण कुछ ठोक से हो नहीं पाता था । उधर दिनरात दरबार की उर्दू जबान में न जाने कितने अजनबी और गढ़े हुए टटके शब्द जड़े जा रहे थे, और तिस पर

भी तुरा यह कि उन्हें देशभाषा में खपाने के लिये सैकड़ों रुपए प्रतिदिन पानी की तरह ❀ बहाए जा रहे थे। कंपनी सरकार की नीति क्या हो गई थी, इसे कट्टर ईसाई भक्त गासॉ-द-तामी के मुँह से सुन लीजिए और भूल न जाइए कि आप हिंदुओं के द्वेषी परम मुसलिम भक्त थे। आप फरमाते हैं और बिल्कुल सही फरमाते हैं कि—

‘ईस्ट इंडिया कंपनी की यह हिकमत असली रही थी कि उर्दू को हिंदी से अलहदह तमन्वर किया जाय। चुनांचः उर्दू का जो जदीद अदब इस ज़माने में पैदा हुआ उसमें अरबी फ़ारसी के अल्फ़ाज़ बराबर इस्तेमाल किए जाते थे बल्कि उन अल्फ़ाज़ को तरजीह दी जाती थी। इस जदीद अदब की सरकारी मदारिस में भी हिम्मत अफ़जाई की गई।’ (सुतवात पृ० ५४६, व्याख्यान सन् १८६६ ई०)

❀ कंपनी सरकार ने उर्दू का उन्नति के लिये जो कुछ किया उसका ठीक ठीक लेखा अभी तक नहीं लिया गया। हिंदी वालों को यदि इसका कुछ भी पता होता तो उनकी समझ में आसानी से आ जाता कि हिंदी को मारने के लिये सरकार कितनी मुस्तैदी से काम करती आ रही है। यदि उर्दू के गत १०० वर्ष के इतिहास पर ध्यान दिया जाय तो स्पष्ट होगा कि ब्रिटिश और निजाम सरकार ने ही उर्दू को हिंदी के खून से सींच कर हरा भरा कर दिया है। नहीं तो यह कलमी पौधा अपने आप ही सूख कर नष्ट हो जाता।

कहने की जरूरत नहीं कि इसी फारसी-अरबी के बाहरी लदाव के कारण राजा शिवप्रसाद उस उर्दू के विरोधी हो गए थे जो देशभाषा के नाम पर बच्चों को एक ऐसी जवान पढ़ाना चाहती थी जिसका भारत के नित्यप्रति के जीवन से कुछ भी संबंध न था और जिसकी प्रतिष्ठा केवल इस्तियाजी लोगों में ही हो सकती थी। फिर भी हम यह नहीं कह सकते कि यह बाबू साहब की उल्टी गंगा बहाने की एक निहायत ओछी तद्बीर थी। क्योंकि यह हम अच्छी तरह जानते हैं कि फारसी की जगह उर्दू के आ जाने पर भी हिंदी अँगरेजी सरकार की आँख से ओझल नहीं हुई। यहाँ की गर्मी की तरह यहाँ की भाषा को भी उसे विवश हो सहना ही पड़ा। जनता के पास पहुँचने के लिये जनता की भाषा को अपनाना ही पड़ा। अतएव हम देखते हैं कि आगरा खंड की पुलिस की सावधानी के लिये जो नियम बनते हैं उनमें हिंदी को भी जगह मिलती है। अभी हिंदी उसी तरह उर्दू के साथ लगी चल रही है जिस तरह कभी फारसी के साथ चलती थी। जरा देखिए तो सही—

“बड़ी सड़क के अहलकारान पुलिस के कामों में भ्रम दूर करने के हेत नीचे लिखे हुए कायदे उनकी साधना के लिये स्थापित हुए हैं और उर्दू और हिंदी भाषा में इन कायदों की एक एक प्रति तखते पर चिपका कर उस सड़क के पास के हर एक मरहले और चौकी और थाने पर लटकाई जायगी।” (शिक्षा, श्री युत

पश्चिम देशाधिपति नव्वाब लफ्टनंट गवर्नर बहादुर की आज्ञा-
नुसार छापी गई; आगरा सिकंदरे पै यतीमों के छापेघर में छपी,
सन् १८५३ ई०)

अस्तु, हिंदी के द्वेषियों और उर्दू के हिमायतियों को भूलना
न होगा कि—

“इस शिक्षा पुस्तक के रचने से हमारा अभिप्राय यह है कि
उन पुलीसाध्यक्षों के लिये जो आगरे हाते के जिलों में प्रतिदिन
बढ़ते चले जाते हैं और निस्संदेह लेखनी का पकड़ना ऐसा अच्छा
नहीं जानते जैसा कि तलवार का जानते हैं परन्तु फिर भी कुछ
कुछ अक्षर ज्ञान और पुस्तक पढ़ने की अभिलाषा रखते हैं एक
छोटी और सीधी सी आज्ञा पुस्तक बनाई जाय ॥ इन लोगों
में अर्थात् पुलीस के जमादारों और बरकंदाजों में ऐसे मनचले
थोड़े होंगे जो लेडली साहिब के तरजुम किये हुए दरोगा के
दस्तूरुलअमल को देखें और कदापि देखा भी तो ठीक वही उप-
देश जिसको अपने काम के लिये वे चाहते हैं कठिनता से
मिलेगा और कदाचित् ठीक वही उपदेश भी पा गया तो उसका
समझना सहज नहीं क्योंकि आईन ग्रंथों में नियत शब्दों और
बार बार एक से वाक्यों का लाना आवश्यक पड़ता है और इस
से कानून का पाठ कुपढ़ मनुष्य की समझ को घबरा डालता है
परन्तु जो ऐसे मनुष्य इस छोटी सी पुस्तक को देखा करें तो
संभव है कि अपने मतलब की शिक्षा और उपदेश सहज ही
पावें ॥ इससे जान पड़ा कि हमारी आकांक्षा इतनी दरोगों को

विद्याभ्यास कराने से नहीं है जितनी कि इन आधीन लोगों के पढ़ाने से है जो आसा रखते हैं कि किसी दिन दरोगा के काम पर पहुँचें ॥ हो सकता है कि अगर बरकंदाज उद्योग करे तो इन उपदेशों को हिन्दी भाषा में लिख पढ़ कर अपने तर्ह जमींदारी के ओहदे के योग्य बनावे इसी भाँति जमादार भी अगर इतनी उर्दू पढ़ जाय कि इन उपदेशों को जान ले तो जो और तरह से भी लायक होगा थानेदारी के योग्य गिना जायगा ॥ इन बातों के सिवाय पुलिस के अच्छे बनाने की यह जुगत है कि पुलिस के सब नौकरों को आसा रहै कि अगर योग्य हों और अच्छे चलन से चलें तो उनकी पद वृद्धि होगी इसलिए यह भी उचित है कि ऐसा उपाय किया जाय जिस्से हर कोई यथा योग्य बातों के जानने का द्वारा पावे ।” (वही पृ० ११, १२)

उक्त 'शिक्षा पुस्तक' के प्रकृत अवतरणों से स्पष्ट हो जाता है कि अभी तक हिंदी अपनी पुरानी मर्यादा पर बनी है और अपनी सहज सरलता के कारण सुबोध और उपयोगी भी समझी जाती है । 'बरकंदाज' हिंदी के सहारे 'जमादार' तो बन सकता है पर थानेदार* होने के लिये 'उर्दू' का जानना लाजिमी है ।

*हिंदी उर्दू विवाद के विषय में हम बराबर कहते आ रहे हैं कि वस्तुतः वह जनता का कोई निजी विवाद नहीं है, बल्कि उसपर वह सरकार की ओर से लाद दिया गया है । इस लड़ाव का भार जनता पर आज इतना पड़ गया है कि कुछ लोग शिक्षा के लिये हिंदी और उर्दू को अनिवार्य करा देना

क्यों ? कुछ इसलिये नहीं कि वह वस्तुतः हमारी लोकभाषा है, बल्कि इसलिये कि वह सचमुच हमारी पुरानी राजभाषा याने फारसी की ऊपरी संतान है । उसी को जगह एक वारिसी हैसियत से फल फूल रही है । उसे लोकभाषा या 'मुल्की ज़बान' कहना शुद्ध पाखंड या प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, और यदि है भी तो छल-छंद का पूरा इंद्रजाल, अपनी कूप-मंडूकता का घोर प्रदर्शन । बस, इससे अधिक और कुछ भी नहीं ।

यह तो हुई उस मुहकमे की बातचीत जिसे पलटन वाले जनाना समझते हैं । अब जरा मरदाने लोगों की ज़बान पर गौर कीजिए । अच्छा हो, आगरे से कुछ और आगे बढ़ कर सीधे उर्दू-ए-मुहल्ला पर धावा बोल दीजिए और प्रत्यक्ष देख लीजिए कि वहाँ देहली कालेज में अरबी फारसी के छात्र उस 'शाही' जमाने में भी हिंदी पढ़ रहे हैं । और सो भी वह हिंदी जो आजकल की नई या प्रेमसागरीः हिंदी कही जाती है ।

चाहते हैं पर कभी इस बात का विचार नहीं करते कि आखिर 'पुलीसाध्यक्ष' लोग आज हिंदी की उपेक्षा क्यों करते हैं और क्यों अपना सारा कामकाज उर्दू में ही करते हैं । हिंदी का नाम तक नहीं लेते । इसमें अपराध किसका है ?

ः प्रेमसागर की भूमिका में 'यामिनी भाषा छोड़' क्या लिख दिया गया कि हिंदी विरोधियों को एक अमोघ अस्त्र मिला गया । किसी को इस बात की चिंता तक न हुई कि श्री लल्लू जी

क्यों ? जवाब ध्यानपूर्वक सुनिए । सत्य का दावा है कि—

“अरबी फ़ारसी के तुल्बः बैताल पचीसी, सिंहासन बतीसी और प्रेमसागर पढ़ते थे । यह इस ख्याल से कि अगर कोई तालिब इल्म फौजी मुंशीगिरी की खिदमत कबूल करे तो उसे अंजाम दे सके” (उर्दू, तिमाही रिसाला, अंजुमन तरक्की उर्दू औरंगाबाद, दकन सन् १९३३ ई० पृ० ५८)

और

“अरबी फ़ारसी के तमाम मुतलमीन हिंदी पढ़ते थे । इसमें मसलहत यह थी कि इन जवानों के तुल्बः अमूमन् आला काबिलियत के होते थे और जब वह देहात में जाते थे तो गाँव वालों से मामलः करने में यह जवान कारामद साबित होती थी ।” (वही पृ० ५२, ५३)

‘देहात’ के गँवारों और ‘फौज’ के उजड़ुओं के लिये हिंदी का पढ़ना जरूरी था तो कोई बात नहीं । कचहरी और ‘माल’ के दफ्तर तो उससे पाक हैं ? निवेदन है, कदापि नहीं । वहाँ भी यह भूतनी तैयार है । देखिए न. किस शान से अड़ी है—

लाल की ‘यामिनी भाषा’ और ‘खड़ी बोली’ का अर्थ क्या है । क्यों उनकी रचना प्रेमसागर में एक ही शब्द के अनेक रूप हैं ? कारण प्रत्यक्ष है । वह एक ऐसी पोथी है जिसमें नित्य-प्रति के बोल चाल के शब्द प्रयुक्त हुए हैं । कुछ बनावटी या बासी शब्द नहीं । वह ‘उर्दू’ की किताब न होकर ठेठ हिंदी की एक ललित पोथी है जिसमें तद्भव शब्दों की सुंदर बहार है ।

‘हर ऐसा तालिब इल्म जो अंगरेजी पढ़ता है सिर्फ उर्दू लाजिमी तौर पर पढ़े और नागरी हुरूफ़ से बखूबी शनासा हो जाय ताकि उन्हें कामिल सहेत और पूरी आसानी से बे रोक टोक और बे झिझक उठा ले और अगर वह गवर्नमेंट का अफ़सर मालगुजारी हो जाये तो उसे कोई दिक्कत पेश न आए।’ (वही, पृ० ५७)

मालगुजारी के नाम से जनाव पटवारी साहब याद आ गए। उनकी वही या बस्ते की लीला अपरंपार है। उसकी कुंडलिनी शक्ति अपार है। उसकी नाड़ी का पता पाना कठिन है। तो भी नागरी ने कभी ‘मुंशी’ जी को भी मात कर दिया था और बेचारे मुई नागरी के कारण गँवारों के हाथ में आ गए थे। बनारस कालेज के प्रधान हिंदी अध्यापक पंडित बट्टीलाल का उल्लास तो देखिए—

“जिम वक्त पटवारगिरी की चारों किताबें छप कर तैयार हुईं और हर एक पटवारी को उसमें इमतिहान देने का हुक्म हुआ ज़मीदारों को बड़ी खुशी हुई और बहुत से ज़मीदारों को भी उस के पढ़ने की खाहिश हुई। कितने जो कि हिंदी लिखने पढ़ने में दखल रखते थे फ़ौरन उसको पढ़ने लगे और अपना ज़मीदारी के काम को समझने लगे। यहाँ तक कि पटवारियों ❀

❀ भाषा के विषय में पटवारियों की नीति यह है कि हिंदी जनता के लिये उर्दू और उर्दू के लोगों के लिये हिंदी का व्यवहार किया जाय। याने अपने कागज़ों में उस भाषा

के भी कान कतरने लगे लेकिन इसके पेश्तर वे अपने काम को कुछ नहीं समझते थे और तमाम रैयत को खुशी थी कि अब हिंदी में गाँवों का काम हुआ करेगा और हम लोग बखूबी समझ लिया करेंगे। बाद थोड़े दिनों के जब फिर उर्दू ही में काम होने लगा तो लोग फिर वैसे ही नाउम्मेद हो गए जैसे पहले थे। अब फिर पहले वक्त के मुआफिक उनको ताबेदारी उठानी पड़ती है।” (बनारस इंस्टीट्यूट का विवरण, सन् १८६४ से १८६५ ई० तक, पृ० १००)

हिंदी के इस देश निकाले के कारण पर कुछ विशेष विचार करने की आवश्यकता नहीं, इसका कारण बिल्कुल प्रत्यक्ष है। हाँ, नोट यह कर लेना चाहिए कि सन् १८४७ ई० में शिक्षा-विभाग की ओर से कहा यह गया था कि देहली कालेज में—

“हिंदी ज़बान तमाम तुल्य के लिये लाज़िमी कर दी जाय और वज़ीफ़े के लिये हिंदी का जानना लाज़िम करार दिया जाय।”

तथा लिपि का व्यवहार किया जाय जो जनता की पहुँच से जरा दूर हो और जिसके बाँचने के लिये भी कुछ प्राप्त होता रहे। कमाने की यह क्रिया तब तक बराबर जारी रहेगी और भोली जनता तब तक बराबर यों ही पिसती रहेगी जब तक सरकार की नीति उर्दू या सरकारी रहेगी और सरकारी लोगों की पेट पूजा को महत्त्व देगी।

इसका सरकार की ओर से उत्तर यह मिला था कि—

“एक ऐसी ज़बान का इल्म तमाम तुल्ब के लिये लाजिम करार देना जो मुल्क की सरकारो और दफ्तरी ज़बान नहीं है हमारी राय में दुरुस्त नहीं। अलावः इसके मुसलमान तुल्बः जिनकी तादाद इस कालेज में बहुत बड़ी है इसे अच्छी नज़र से नहीं देखेंगे।” (उर्दू-वही पृ० ४१)

तुल्ब तो यह कि एक ओर उसी देहली कालेज के अरबी और फ़ारसी के लड़के शौक से नौकरी या मुंशीगिरी के लिये प्रेमसागर जैसी काफ़िरी किताब पढ़ रहे हैं और दूसरी ओर अंगरेजी के विद्यार्थियों के लिये कहा जाता है कि उनके लिये हिंदी का कोई महत्त्व नहीं। तबपर भी तुरा यह कि मुसलमान लड़के हिंदी को पसंद न करेंगे। करते भी कैसे ! हिंदी ‘सरकारी’ या ‘दफ्तरी’ ज़बान तो थी नहीं। उसके लिये उर्दू का बोल-बाला था। रही गँवारों की बात। सो अंगरेजी पढ़े-लिखों का उनसे सीधे संबंध ही क्या था कि किसी गँवारी भाषा को सीखते। निदान हिंदी की वह दुर्गति हो गई जिसका निर्देश पंडित बद्रीलाल जी ने अपने उक्त निबंध में किया है। उनका रोना है —

“नाचारी के सबब से लोग उर्दू पढ़ा चाहते हैं, याने जिस हालत में हिंदी जारी नहीं है उस हालत में क्या करें बग़ैर उर्दू के कचहरी में दाख़िल नहीं हो सकते इस वास्ते उर्दू पढ़ते हैं नहीं उर्दू पढ़ने का शौक किसको है। कोई हिंदु-

तानी ऐसा न होगा जो अपनी ज़बान को छोड़कर दूसरी ज़बान सीखना कबूल करेगा जब तक कि उसे ज़रूरत न हो। कोई घर को छोड़ कर परदेश जाने की इच्छा नहीं करता तावत् कि उसे परदेश जाने का काम न पड़े।” (वही, पृ० १००)

अच्छा, तो होना क्या चाहिए। इसे भी उक्त पंडित जी से जान लीजिए—

“सच है कि जिस देश की जो भाषा है उसमें जो अच्छे अच्छे इल्मों की बातें लिखी जावें तो उस मुल्क को बड़ा फायदा हो। देश में दो भाषा हमेशा रहती हैं। याने एक तो राज भाषा जिससे राजा को देश का हान समझ में आवे दूसरी देश भाषा जिससे रैयत आसानी से समझ सके। तीसरी भाषा की कुछ ज़रूरत नहीं। याने इस मुल्क में हिंदी और अंगरेजी भाषा का जारी होना बहुत जरूरी है। इस उर्दू से बहुत से लोग घबराते हैं और उसे अच्छी तरह समझ नहीं सकते। कारन यह कि उसमें फारसी के मुश्किल मुश्किल लफ्ज रहते हैं, जिन्हें मुद्दई मुहाब्रलैह दोनों नहीं समझते और निहायत तकलीफ उठाते हैं। दूसरों की खुशामद करनी पड़ती है। अगर इसके स्थान में हिंदी जारी होती तो रैयत को निहायत खुशी होती।” (वही, पृ० १०१)

पंडित जी की समझ में यह बात न आ सकी थी कि देश में सचमुच एक तीसरी ज़बान की भी जरूरत है जो रिआया को रिआया से लड़ा कर उन्हें बराबर अज्ञात रख सके और

कभी उसमें किसी तरह की एकता स्थापित न होने दे। यदि यह सीधी सी बात उनकी समझ में आ जाती तो उनका कहना यह कभी न होता कि—

“मैंने इस मज़मून को सीधी उर्दू में इसी वास्ते लिखा है कि हमारे प्रेसिडेंट साहिब बहादुर उर्दू के शायक हैं।”
(वही० पृ० १०१)

प्रेसिडेंट साहेब बहादुर उर्दू के शायक क्यों हैं ? कुछ इसका भी पता है ? सुनिए । उनको इस बात का पूरा पूरा पता है कि उर्दू यहाँ की लोकभाषा नहीं है, केवल कचहरियों के कारण वह जनता के गले मड़ी जाती है और फलतः तभी तक देश में वह अच्छी तरह फल फूल सकती है जब तक उसपर सरकार की निगाह है । सरकार की नजरों से गिरी नहीं कि वह चटरमातल पहुँच गई । यदि उसकी जगह अँगरेजी को मिल सकती तो बात ही और थी । फिर पूछना क्या था ? फारसी की तरह उर्दू भी देखते ही देखते हवा हो जाती । पर बात ठहरी हिंदी की । उस हिंदी की जो वस्तुतः देश की राष्ट्रभाषा है और जिसके अंग अंग में, रोम रोम और रग रग में, राष्ट्र की सच्ची भावना छिपी है ; जिससे सरकार को बराबर यह आशंका है कि कहीं वह स्वतंत्रता की सच्ची रणभेरी बजा कर हिंदियों को एक न कर दे और उन भटके हुए जीवों को यह न सुझा दे कि 'वास्तव में यही तुम्हारी मातृभाषा है । तुममें से जो आज भी अपने को तुर्क, अरब या फारसी समझते हैं उनकी समझ में

घुन लग गया है। उनको यह ध्रुव सत्य दिखाई नहीं देता कि तुर्क, अरब और फारस उन्हें मुसलिम नहीं केवल 'हिंदी' या 'हिंदी❀ बत्ताल' कहते हैं। फिर कोई कारण नहीं कि तुम अपने को हिंदी न समझो, अपने हिंदी होने का गर्व न कर हिंदी से किनारा कसो और व्यर्थ के शीन काफ के प्रलोभन में अपने राष्ट्रजीवन को बरबाद करो।' निदान सरकार बहादुर के बहादुर साहबों ने उर्दू को सराहा और फारसी की जगह अंगरेजी को चालू कर हिंदी की जगह उसकी चहेती उर्दू को बिठा दिया और जी जान से उसकी अदा पर कुरबान होने लगे।

पैगम्बरी मत के नाते, शाही सरकार की अधीनता के कारण और सबसे बढ़ कर राष्ट्र में फूट बोलने के लिये यह अनिवार्य हो गया है कि हिंदी की जगह दरबारी उर्दू को हिंदुस्तानी के नाम

❀हिंदी मुसलमानों की एक निजी विशेषता यह है कि वे अपने को कभी हिंदुस्तानी नहीं समझते। हिंदुस्तानी का पर-परागत अर्थ हिंदू क्यों हो गया और हिंदू का अर्थ भी देशपरक न हो कर एक धर्मपरक कैसे हो गया आदि प्रश्नों पर विचार करने से स्पष्ट अवगत हो जाता है कि हिंदुस्तान के मुसलमानों का रुख किधर रहा है और क्यों उन्हें अपने आपको मुसलमान कहने में अधिक गर्व का अनुभव होता है। एक ईरानी मुसलमान को ईरान से इतनी ममता है कि वह उसके कण कण से प्रेम करता है पर हिंदी मुसलमान आज हिंदू के कणों को अपना एक मात्र खादिम समझता है

पर चालू किया जाय और अपने को मुमलमान कहने वाले जीवों को संतुष्ट कर यह सुझा दिया जाय कि यदि वे सावधान तथा सतर्क नहीं हो जाते हिंदू नाम के जीव उन्हें साफ चट कर जायेंगे और फिर उनका निशान भी उस देश से मिट जायगा जो न जाने कितने दिनों से उनके चरणों पर नाक रगड़ता रहा है। फल यह हुआ कि उनमें भी तत्परता आ गई और वे अपनी 'शान' तथा 'इस्तयाज' के लिये पागल हो उठे। सैयद अहमद खाँ बहादुर पहले से ही इसके लिये तुने बैठे थे। फिर क्या था, उर्दू का बाजार गर्म हुआ और हिंदी की छीछा-लेदर शुरू हुई। उर्दू मुल्की जबान बनी और हिंदी गँवारी बोली हो कर रह गई।

सैयद अहमद खाँ बहादुर की साइंटिफिक सोसायटी की नतीजा इसका यह होता है कि वह फ़ारस और अरब का गुणागान कर अपने आपको हम हिंदियाँ से अलग कर लेता है पर अपनी इम इस्तयाजी चेष्टा के कारण स्वतंत्र मुसलिम देशों में आदर की दृष्टि से नहीं देखा जाता बल्कि स्वतः अरब भी उसे 'बत्ताल' या भूठा ही कहते हैं और 'हिंदी' मनहूस नाम से याद करमाते हैं। यदि हिंद के मुसलमानों को अपने देश का सच्चा अभिमान होना तो उन्हें अरस्तू, अफ़लातून या रुस्तम से कहीं अधिक व्यास, कपिल और भीम से ही प्रेम होता और उनकी प्रवृत्ति भी सर्वथा हिंदी हो होती। पर यहाँ की बात ही निराज़ी है। घर से बैर ग़ैर से रमभव।

कुछ चर्चा करने के पहले ही सुभीता होगा कि तनिक देहली कालेज का रवैया देख लें। कहना न होगा कि उक्त कालेज के भीतर एक ऐसी संस्था भी कायम की गई थी जिसका नाम था 'वर्नाक्यूलर ट्रांसलेशन सोसायटी', और जिसका काम था देश-भाषाओं के द्वारा उस अपूर्व ज्ञान को देशवासियों में भर देना जिनका उन्हें पता तक न था। खैर, उसने किया क्या, तनिक इसमें ही देख लीजिए। उसकी रिपोर्ट में कहा गया है कि

“अगरच: यह अंजुमन अँगरेजी, अरबी, संस्कृत और फ़ारसी ज़बानों से आला दरजे की किताबें उर्दू, बंगाली और हिंदी में तरजम: करने के लिये कायम की गई थी, लेकिन सिवाय उर्दू के बंगाली और हिंदी में कोई तरजम: नहीं हुआ।” (उर्दू, जुलाई, १९३९ ई० पृ० ४७२

क्यों नहीं हुआ, जरा इसे भी गौर से सुन लें—

“सिक्रेटरी ने अपनी रिपोर्ट में इसकी कई वजूह बताई हैं। एक तो यह कि अंजुमन का सरमाय: महदूद है और फ़िल्हाल हमें अपनी कोशिशों सिर्फ एक ज़बान तक महदूद रखनी चाहिए। दूसरे, अलाव: इस अम्र के कि बंगाल से सिर्फ एक ही साहब ने चन्द: अता किया है, बंगाली ज़बान बनिस्बत हिंदुस्तानी के ज्यादातर क़ीयाफ़ता है। तीसरे, उर्दू तरजमों के लिये देहली कालेज सब से मौजूद जगह है। हिंदी और बंगाली तरजमों के लिये इस क़दर मौजूद नहीं। चौथे, हिंदुस्तानी ज़बान कम्पनी के इलाकों (बिहार और बालाई सूबों) की रिआया के

लिये हिंदी के मुकाबिले में ज्यादा अहमियत रखती है और अगलब है कि रफ्तः रफ्तः यही ज़बान इन इलाकों के गवर्नमेंट मदारिस और कालेजों में जरियः तालीम हो जायगी।” (वही पृ० ४७२-३)

याद रहे, उर्दू की इस ‘अहमियत’ का कारण कुछ यह नहीं है कि वह हिंदुस्तान की लोकभाषा है बल्कि साफ यह है कि—

‘ उर्दू बिहार और सूबाजात मगारिबी में सरकारी ज़बान है और इसलिये हिंदी से ज्यादा इसकी अहमियत है।” (वही पृ० ४७३)

कारणों की मीमांसा से काम न चलेगा, बल्कि और आगे बढ़कर कुछ सैयद अहमद खाँ बहादुर की ❀ साइंटिफिक सोसायटी को करतूत देखनी होगी। हाँ, यहाँ इतना नोट भर कर लेना होगा कि—

❀ साइंटिफिक सोसायटी की रचना जिस दृष्टि से की गई थी वह राष्ट्रहित के लिये साधु न थी। सैयद अहमद खाँ की इस सूफ का सूत्रपात सन् १८६३ ई० में हो तो गया पर उसका समुचित प्रकाश उसकी जन्मभूमि गाजीपुर में न हो सका। अलीगढ़ में ही उसको फलने फूलने की जगह मिली। सन् १८५७ के देशव्यापक विप्लव के बाद सर सैयद को जो मुसलिम चिंता हुई उसी के फल स्वरूप उक्त सोसायटी को जन्म मिला और उसी के कारण उनके लिये हिंदू तथा हिंदी कुछ खट्टे हो गए।

“इसमें ज़रा शुबहः नहीं कि उर्दू को इल्मी ज़बान बनाने की यह पहली सई थी जो ख़ास असूज़ और कायदह के साथ अमल में आई” (वही पृ० ४८)

पाठकों को याद होगा कि सैयद अहमद खाँ बहादुर या बाद के प्रसिद्ध ‘सर सैयद’ बाबू शिवप्रसाद बनारसी से इसी-लिये चिढ़ अथवा भड़क गए थे कि वह कभी कभी उर्दू के साथ हिंदी का भी नाम ले लिया करते थे और चाहते थे कि उर्दू के साथ ही साथ हमारा देशभाषा हिंदी भी फूले फले । निदान उन्होंने एक दिन सैयद साहब की सोमायटी के मेम्बरों से कह दिया कि कुछ लोकभाषा की भी सुधि लेनी चाहिए । कहना तो सोलहों आना ठीक था पर सैयद साहब को रुचना तो दूर रहा, उल्टे ओर भी चुभ गया । उन्होंने चट निश्चय कर लिया क्या, तुरंत जी जान से ठान ली कि जीते जी तो ‘मफतूहों’ की ज़बान को सरकार तक पहुँचने न दूँगा और बाद में भी वह सबक सिखा जाऊंगा कि हिंदी कभी उर्दू के साथ देश में पनप भी नहीं सके । हुआ भी यही । पर बात उनके वश की न थी । हिंदी अपने बल बूते पर दिन दूनी और रात चौगुनी बढ़ने लगी और अंत में विवश हो सरकार को भी उसे अपनाना पड़ा । हिंदी राजा शिवप्रसाद सितारे हिंद से भी आगे बढ़ गई और देखते देखते सर्वत्र उसका बोलबाला हो गया । ‘सितारे हिंद’ को ‘भारतेंदु’ ने मात कर दिया ।

हाँ, तो हमारा दावा है कि ‘हिंदी’ के लिये ‘बाबू शिवप्रसाद’

का आप्रह करना बिल्कुल बजा था। क्योंकि हम अच्छी तरह जानते हैं कि उक्त सोसायटी का सर्वप्रथम नियम था—

“उन उलूम व फनून की किताबों का जिनको अंगरेजी ज़बान में या यूरोप की किसी और ज़बान में होने के सबब हिंदुस्तानी नहीं समझ सकते, ऐसी ज़बानों में तरजमः करना जो हिंदुस्तानियों के आम इस्तमाल में हों” (उर्दू जुलाई सन् १९३५ ई० पृ० ५४७)

अब क्या कोई सज्जन कलेजे पर हाथ रख कर, सचाई के साथ कह सकते हैं कि उक्त बाबू साहब ने हिंदी का नाम ‘मुसलमानों की निशानी’ को मिटाने के लिये पेश किया था ? अथवा उनके सामने हिंदी का वह जन्मसिद्ध अधिकार था जिसका विधान स्वतः उक्त सोसायटी के प्रथम नियम में ही कर दिया गया था ? बात यह है कि आरंभ से ही हिंदी के विपक्षियों की यह कूटनीति रही है कि येनकेन प्रकारेण हिंदी को भाँसापट्टी दे अपना मतलब गाँठ लिया जाय और फिर यह हुल्लड़ कर दिया जाय कि हिंदी तो कल की बनावटी ज़बान है। भला वह ‘मुल्ही ज़बान’ उर्दू के सामने क्या ठहर सकती है। इतना ही नहीं। इधर तो उर्दू वालों ने अपना यह धर्म ही समझ लिया है कि जहाँ कहीं पुराने ग्रंथों या पोथियों में ‘हिंदी’ या ‘हिंदुस्तानी’ शब्द दिखाई दे, चट उसे उर्दू करार दे दो और यह प्रत्यक्ष दिखा दो कि उर्दू कितनी पुरानी है। उर्दू की इस घोर सनक का परिचय अन्यत्र कराया जायगा। यहाँ बस इतना जान लीजिए

कि डाक्टर मौलाना अब्दुल हक जैसी हकपरस्त हस्ती के हाथों आज हक का खून सरासर इसलिए हो रहा है कि उर्दू दर हकीकत एक इस्तयाज़ी' ज़बान है जो इस मेल-मिलाप के युग में अपने बूने अपने आप चल नहीं सकती । इसलिये उसके प्रचार एवं प्रसार के लिये जाल रचना आवश्यक है । उनकी यह जाल-लीला यहाँ तक पहुँच गई है कि उसको देखकर लज्जा आती है और इस बात का दुःख होता है कि हमारा एक हमदर्द व्यर्थ के विवाद में इतना खो गया है कि उसे सत्य की चिंता नहीं । उसे उर्दू का प्रेम नहीं, बस केवल व्यर्थ का व्यामोह है । देखिए न, 'गार्सी-द-तासी के व्याख्यान' में किस ढब से 'हिंदुस्तानी' को 'उर्दू' कर दिया गया है और सत्य के क्षेत्र में धाँधली की मुनादी फेर दी गई है । गार्सी-द-तासी का कहना है —

‘लखनऊ में केनिंग कालेज रोज़-बरोज़ तरक्की कर रहा है । इस वक्त इस कालेज में तीन जमाअतें हैं—

(१) हिंदुस्तानी (उर्दू) की जमाअत ।

(२) अंगरेज़ी की जमाअत ।

(३) आला जमाअत ।

हिंदुस्तानी की जमाअत में अंगरेज़ी नहीं पढ़ाई जाती, बल्कि हिंदुस्तान की इल्मी ज़बानों की तालीम दी जाती है । इस जमाअत में एक सौ पैंनालोस तुल्य है । इनमें सात फ़ारसी सीखते हैं, तीस संस्कृत और सत्तर अरबी की तहसीज़ करते हैं ।” (सूतनात गार्सी-द-तासी, १८६७ ई० का व्याख्यान, अंजुमन

तरक्की उर्दू, औरंगाबाद, सन् १९३५ ई० पृ० ६०६)

स्पष्ट है कि 'हिंदुस्तानी की जमाअत' में 'फारसी' 'संस्कृत' तथा 'अरबी' की शिक्षा दी जाती है न कि एकमात्र 'उर्दू' याने हिंदुस्तानी की। फिर भी हिंदुस्तानी (Indian) की जगह 'उर्दू'* लिखना इसलिये जरूरी हो गया कि कहीं इसका मतलब 'हिंदी' याने हिंदुस्तानी न समझ लिया जाय। वह भी उस समय जब इसका पूरा पूरा पता था कि गार्मी-द-तामी को यह बार बार दुहाई है कि उनकी 'हिंदुस्तानी' का ठेठ अर्थ है हिंदी और उर्दू, याने दोनों ही—ठीक कांगरेसी अर्थ।

हैरान न हों बल्कि और भी तत्परता के साथ गौर करें और देखें कि मामला क्या है। प्रसंग कचहरी का है। इसलिये कानून की बात लीजिए। याद रखिए कि उर्दू के एक परम खोजी अदीब ने उर्दू में 'कानूनी तराजम' का 'पहला दौर' माना है

*उर्दू की यह चेष्टा इतनी घोर और निंदनीय हो गई है कि अब उसके साहित्य के क्षेत्र में सत्य का नाम तक नहीं है। जिधर देखो उधर ही 'हिंदी, और 'हिंदुस्तानी' की जगह उर्दू लिखा जा रहा है और दिलेरी के साथ न जाने किस मुंह से यह दावे के साथ सिद्ध किया जा रहा है कि उर्दू का इतिहास इतना पुराना है, उर्दू इतने लोगों की 'मादरी ज़बान' है। यह सनक यहाँ तक हावी हो गई है कि हैदराबाद की गत मर्दुम-शुमारी भी इसकी तपेट में आ गई है। अतएव राष्ट्रप्रेमियों को इससे सजग हो जाना चाहिए।

सन् १८५१ ई० से सन् १९०० ई० तक। क्यों १८५१ ई० से ? इसका उत्तर स्पष्ट है, पर उनके लिये जो उर्दू की सच्ची हकीकत से अच्छी तरह वाकिफ हैं और उर्दू को मेल-जोल की चीज नहीं बल्कि पक्की 'इस्तियाज़ी' 'ईजाद' समझते हैं। बात यह है कि—

‘सलातीन इसलाम के अहद से हुकूमत बरतानियः के अवायल तक हिंदुस्तान में अदालत व दफ़तर की कारवाइयाँ फ़ारसी ज़बान में हुआ करती थीं, और अगरचः ईस्ट इंडिया कंपनी के ज़माने से सन् १८३५ ई० में उर्दू ज़बान की तरबीज के एहक़ाम दफ़तर के लिये जारी हो गए थे, मगर इसके बाद भी बहुत दिनों तक अगरेजों के फ़ैसले और दफ़तर का कारबार फ़ारसी ही में होता रहा। दस बारह बरस के बाद जब उर्दू नवीसी शुरू हुई उस वक्त भी ज़बान की इब्दताई हालत के सबब से एक मुद्दत तक अन्दाज़ बयान में इस रिस्म की गंजलक रही कि उस उर्दू के मतालब का समझना कोह कन्दन वो काह बर आबरदन का मसदाक़ रहा।” (तारीख़ नस्र उर्दू, मु० यू० प्रेस, अलीगढ़ सन् १९३०, पृ० ३८९)

१८३५ ई० के विषय में हम पहले ही कह चुके हैं कि ‘दफ़तर हुकूमत में उर्दू ज़बान का अमल व दख़ल सन् १८३५ ई० में हुआ,’ यह बिल्कुल ग़लत है। सही यह है कि—

“सन् १८३७ ई० में मरकज़ी गवर्नमेंट ने सूबों की गवर्नमेंटों को इजाज़त दी कि बजाय फ़ारसी ज़बान के जो उस वक्त तक

सरकारी दफ्तर की ज़बान थी, अपने अपने सूबों की ज़बान जारी करें।” (मुसलमानों का रोशन मुस्तक़बल, वही, पृ० १३८)

यह तो कहने की बात नहीं कि यदि सचाई और नेक-नीयता से काम लिया जाता तो उक्त आज़्ञा के अनुसार कचहरियों में नागरी, बंगला, उड़िया आदि भाषाओं को ही स्थान मिलता क्योंकि—

“अदालत दयार मगरिबो और बिहार के अज़ला के मुहक़मों से बइबारत उर्दू व ख़त नागरी और अज़ला दयार बंगाले में बइबारत व ख़त बंगलह व ज़िला कटक वगैरह परगनों की कचहरियों से बइबारत व ख़त उड़िया मतबूअ या मरकूम होकर सादिर होंगे।” (तारीख़ नस्र उर्दू, वही, पृ० ४७६ पर अवतरित)

पर हुआ यह है कि उक्त सभी प्रांतों में फ़ारसी भाषा को जगह धीरे धीरे एक अजीब बनावटी भाषा, जिसे उर्दू कहते हैं, दी गई और फ़ारसी लिपि तो बदस्तूर बनी रही। उर्दू के बारे में

❧ ‘बइबारत उर्दू व ख़त नागरी’ पर विशेष ध्यान देने की ज़रूरत है। यहां हम इस विवाद में पड़ना नहीं चाहते कि यह हमारे राष्ट्र जीवन का वह शुभ समय है जब ‘उर्दू’ को ‘नागरी’ ख़त से नफ़रत न थी और सरकार शौक के साथ उर्दू के साथ नागरी का विधान करती थी जो उर्दू प्रेमियों को भी प्रिय ही था। पर आज तो नागरी लिपि का नाम भी नागवार मालूम हो रहा है। क्यों, क्या आप इसका कारण बता सकते हैं ?

हम बराबर कहते आ रहे हैं कि दरबारी जवान होने के कारण उसकी माँग बढ़ी और धीरे धीरे उसे वह सारा काम करना पड़ा जिसके लिये मुगल दरबार में कभी फारसी व्यवस्थित थी। फारसी की जगह उर्दू इसीलिये चालू हो गई कि दरहकीकत वह फारसी की चहेती थी। यदि वह फारसी की सगी न होती तो आज उर्दू का कहीं नाम तक सुनाई नहीं देता और सभी एक ही रंग में रँगे दिखाई देते। पर अफसोस ! हमने असलो को नकली करार दे दिया और दोगली को गले लगा उर्दू को भी बरबाद कर दिया। सचमुच कचहरी की जवान उर्दू भी नहीं है। दरहकीकत वह दोगली क्या तिगली है जिसे सिर्फ तिगडमबाज ही पसंद करते हैं उर्दूदाँ हरगिज नहीं।

हाँ, तो विचारणीय बात यह थी कि उर्दू में कानून का आरंभ सन् १८५१ ई० में क्यों हुआ। क्यों उर्दू 'मुल्की' और 'मुश्तरकः' जवान होने पर भी हिंदी से पीछे पड़ गई और मैदान में हिंदी के सामने तब दिखाई देने लगी जब फारसी को कचहरी से बिदा होने का सीधा परवाना मिल गया। जवाब निहायत आसान और माकूल यह है कि फारसीवालों ने सचमुच फारसी को बिदा न किया बल्कि उसे नीतिवश उर्दू के रूप में रख लिया। जब फारसी उठ गई तब उसकी जगह उसकी चहेती उर्दू को मिली और फारसीपरस्तों को एक अजीब राहत नसीब हो गई। उर्दू सरकारी जवान कायम हो गई और देश-

भाषाओं पर ठीक वैसी ही विपत्ति पड़ी जैसी कि आज 'मरहठी' और 'तिलङ्गी' पर निजाम॥ सरकार के राज्य में उर्दू परस्ती के कारण पड़ रही है। उर्दू के चल पडने से पहले जो काम फारसी तथा देशभाषाओं में होते थे, वे अब केवल उर्दू में होने लगे। उर्दू के चालू करने का रहस्य यह रहा कि 'स्त्र' अथवा लिपि तो समूची वही रही, हाँ भाषा की क्रिया और अव्यय में कुछ थोड़ा परिवर्तन हो गया, ऐसा थोड़ा परिवर्तन कि बात की बात में उसने देशभाषाओं को चर लिया और देश में सर्वत्र अशांति का बीज बो दिया। सचमुच हमारी जबान खींच ली और हम देखते ही देखते जानवर से भी बदतर हो गए। हम जिधर जोत दिए गए उधर ही शौक से दिनरात जुते चले जा रहे हैं। हाल तो यही है, आकबत भी खुदा जाने।

कहाँ तो —

“जब हम उस अवस्था को ध्यान करते हैं, कि गांव गांव ॥ निजाम राज्य में देशभाषाओं पर जो विपदा आ पड़ी है वह कल की कोई खास चीज नहीं। उसका भी वहाँ एक जीता जागता इतिहास है। इस इतिहास का ठीक ठीक पता न होने के कारण सत्य के क्षेत्र में अजीब धाँधली मची है और लोग न जाने किस मुंह से उर्दू को हैदराबाद की 'मुल्की जबान' बता रहे हैं। उर्दू का कठोर आग्रह जिस हठधर्मी या आतक के कारण हो रहा है वही तो यहाँ का मुसलिम धर्म है। फिर सच्चे इस्लाम को वह धता क्यों न बताए ?

में पाठशाला बैठ जावेंगे, और हमारे सारे स्वदेशी अपनी बोली में सुगम रीति से शीघ्रतर समस्त विद्या-उपार्जन कर, हिंदो कहावत के अनुसार—मौस्याने एक मत एक ही प्रकार के मनन चिंतन करेंगे, आलस्य और अनुद्योग छोड़ कर सब के सब भारतवर्ष की उन्नति में प्रवृत्त होंगे, कृपामिधु दीनबंधु जगदीश्वर की सद्भक्ति में अनुरक्त हो कर दुष्कर्मों का त्याग करेंगे, आपस में भाई और मित्र की समान प्रीति रखकर एक दूसरे के सहाय होंगे, तो अनायास मुख से उस राजा की वृद्धि का आशीर्वाद निकलता है, जिसने प्रजा के हित ऐसा काम किया, और उस सर्वशक्तिमान परमेश्वर का गुणानुवाद, जिसने हम लोगों को ऐसा राजा दिया ।” (भूगोल हस्तामलक, उपोद्घात पृ० ३-४, संस्कृत प्रेस कलकत्ता, सन् १८५५ ई०)

और कहाँ हम देखते हैं कि लगातार पूरे सौ वर्ष तक जीजान से प्रयत्न करने पर भी ‘अपनी बोली’ तथा ‘अपनी लिपि’ को आज तक अच्छी तरह न अपना सके और व्यर्थ के प्रलोभन में पड़ कर न जाने किसलिये प्रतिदिन पीसे जा रहे हैं और तिसपर भी तुरा यह कि हम अपने इसी भाषा तथा इसी लिपि के प्रेम के कारण द्वेषी तथा हठधर्मी अथवा न जाने क्या क्या घोषित किए जा रहे हैं और इस बहादुर उदार सरकार के राज्य में अपने जन्मभिद्ध अधिकार के अधिकारी भी नहीं रह गए हैं । किसी ने ठीक ही कहा है कि जबान हमारी, कलाम उनका ।

हो गया, सब कुछ हो गया, पर इतना न हुआ कि उस

गरीबिनी नागरी को भी कचहरी में जगह मिले जो न जाने कितने युगों से यहाँ की राष्ट्रलिपि रही है और अपनी इसी राष्ट्रीयता के कारण कंपनी सरकार को कचहरियों, कागजों, सिक्कों तथा मुद्रों पर भी विराजमान रही है। क्यों ? कारण वही हमारा चिरसाथी आलस्य और प्रमाद है। कायरता को ज्ञान और अकर्मण्यता को संन्यास समझने का जीता जागता परिणाम यह है कि आज हमें उसी नागरी के लिये रोना पड़ता है जो आज, इस गिरी दशा में भी समस्त देश की राष्ट्रलिपि है और अपने सहज गुणों के कारण विश्वव्याप्य हो रही है और जिसको पछाड़ने के लिये 'लाखों रुपये' पानी की तरह बहाए जा रहे हैं। क्यों न बहाए जायँ ? आखिर हमी ने तो उन्हें इस धृष्टता का अवसर दिया है और प्रलोभन या पेट की पुकार में पड़ कर एक विलायती लिपि को जालपसंदी के कारण अपना लिया

ऋषापे के क्षेत्र में उर्दू नागरी तथा रोमन लिपि से बहुत पोछे रह जाती है और किसी प्रकार भी उनके समकक्ष नहीं ठहर सकती। उर्दू की इस कमी को दूर करने के लिये आज हैदराबाद कटिबद्ध हो गया है और आज तक उसकी खोज में न जाने कितना धन तथा कितना श्रम बरबाद कर चुका है। कारण कोई नया या अजीब नहीं बल्कि वही चिर परिचित पुराना व्यक्तिगत अभिमान है जो 'शाही शान' या 'फातेहो इम्तयाज' के रूप में आज भी विराजमान है और 'दीन' को दिन दहाड़े घोंट रहा है।

है ? फिर फ़सादी लोग फ़साद क्यों न करें ? अपना जाल क्यों न बिछाएँ ? क्यों न नागरी को रसातल भेजने की चिंता करें और उसे कल की ईजाद कहें ? नागरी से पेट तो भर सकता है पर जाल के आधार पर पैसे की वर्षा तो नहीं हो सकती ? पढ़ने के लिये कमेटी तो नहीं बैठ सकती ? इस छल छद्म के युग में सच्चा होना ही तो महा अपराध है ! फिर नागरी की गुहार कैसी ! हिंदी की पुकार क्या ?

सन् १८६३ ई० की बात है। हिंदुस्तानी के परम प्रेमी प्रसिद्ध फ्रांसीसी पंडित गार्सि-द-तासी का कहना है—

“हिंदुस्तान के सिक्कों पर उनको क्रीमत लिखने का जब मसलह दरपेश था तो यह फैसलह हुआ कि हिंदी और उर्दू हुरूफ में उसे लिखना चाहिए।” (खुतबात, वही पृ० ३७३)

सिक्कों पर, चाँदी के सिक्कों पर उर्दू हुरूफ को तो जगह मिली पर हिंदी अक्षरों को आज तक न मिल सकी। मिलती भी कैसे ? हिंदियों को तो इसकी चिंता नहीं। रही गैरों की बात ? तो उन्हें क्या पड़ी है कि इसको खोज करें कि देश के प्रधान सिक्कों पर किस देश का भाषा तथा किस देश की लिपि है। उनके लिये तो बस इतना काफी है कि उन पर अंगरेजी की छाप सुरक्षित है। फिर चाहे उन पर हिंदी रहे या फारसी, बात तो वही है। पर हमें उन दोस्तों से जो उन्हीं सिक्कों को उर्दू की मुल्की जवान साबित करने के लिये पेश करते हैं, पूछना यह है, कि आखिर आप की उर्दू का अर्थ क्या है ? क्या चाँदी

के सिक्कों की फारसी—लिपि ही नहीं बल्कि भाषा भी—वस्तुतः हमारी 'मुल्की जवान' और 'मुल्का खत' है ? अरे गुमराही से बाज आ, बदगुमानों से परहेज कर, जरा सोचो तो सही कि चाँदों के सिक्कों पर क्यों अभी फारसी ही बनी है और गोल्ट के सिक्कों पर अन्य देश भाषाओं के साथ उर्दू को भी जगह मिल गई है—पर फारसीपन के साथ । याद रहे यदि आपने अपने आप ही इस उलझन को सुलझा लिया तो आपने यह अच्छी तरह जान लिया कि वास्तव में हिंदी-विरोध का अर्थ क्या है और कहाँ तक हमारी बहादुर सरकार बात की पक्की तथा धनी है ।

देखिए—

“Let the people talk and write in whatever they think their colloquial. Pedantry must be Kept down, and simple, correct, idiomatic, refined, and elegant Hindustani (Hindustan's Vernacular) must be encouraged.....Primary Schools did not flourish much in the Punjab because Muhamma-dans there had Persian characters and Persian books introduced in them. The secret of the success of Bengal lies in that nutshell. There they have the same national characters for the courts. the mansions, the firms, the farms, the shops, the

cities, and the villages. Use Hindi characters in the Courts of North-Western-Provinces and Oudh, and I am ready to undertake again, even in this my old age, the duties of an Inspector till I beat Bengal in the number of boys under instruction or else lose my pension."

यह है वावू शिवप्रसाद की घोषणा जिसके लिये बेचारे इतने बदनाम हुए हैं और जिसके लिये यह कहा गया है कि द्वेषवश वे मुसलमानों की निशानी को मिटाना चाहते थे। वे जो चाहते थे वह इतना स्पष्ट है कि उसमें किसी को कुछ संदेह हो ही नहीं सकता। सन् १८८२ के 'एजुकेशन कमिशन' के सामने उन्होंने जो विचार पेश किया वह आपके सामने है। उसमें साफ साफ कहा गया है कि शिक्षा के प्रसार के लिये आवश्यक है कि नागरी लिपि का सर्वत्र प्रचार हो और कचहरी में भी उसे जगह मिले। अरबी या फारसी या उर्दू लिपि के विषय में याद रहे कि—

"The Arabic character, beautiful to look at, is an enemy to printing, and an enemy to the diffusion of knowledge." (Higher Persian Grammar, Calcutta University, 1919. P. 3)

डा० सी० फिल्लाट महोदय जैसे मर्मज्ञ के उक्त निष्कर्ष को सत्य सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं। वह नित्यप्रति के अनु-

भव की॥ स्वयंसिद्ध बात है। अस्तु, अब जरा मिर्जा इरफ़ान अलीबेग साहब की बात सुनिए। उनका ठोस दावा है—

“जो शरूख नागरी खत, अच्छी तौर से लिख पढ़ सकेगा वह इस बात को भी समझ सकेगा कि नागरी खत के सिवा किसी और खत में सहीह तलफ़फ़ुज़ नहीं लिखा जा सकता।”
(नागरी खत, नवल किशोर प्रेस, लखनऊ, सन् १९०० ई० पृ० २२)

और यह भी याद रहे कि—

“अगर आप मुसन्नफ़ की इस हिदायत के मुताबिक़ पूरा अमल करेंगे तो इसमें ज़रा भी शक़ नहीं है कि सिर्फ़ सात ही दिन में आप नागरी खत जरूर लिख पढ़ सकेंगे।” (वही पृ० २)

ऊनागरी लिपि के गुणागान से खीझ कर एक उर्दू के हक़ परस्त लेखक ने उर्दू के एक अद्वितीय त्रैमासिक पत्रिका ‘उर्दू’ में एक बहुत लम्बा सा लेख लिखा है और इस बात की प्रणाम से धार चेष्टा की है कि लोग नागरी लिपि को छोड़कर अरबी फ़ारसी या उर्दू लिपि पर फ़िदा हो जायें। पर एक बात उसे भी खटक जाती है। उसे भी हिंदी या ठेठ शब्दों के व्यवहार के लिये नागरी लिपि का विधान अपने उसी निबंध में कर देना पड़ता है। क्या इसलिये नहीं कि दर हकीकत उर्दू लिपि भ्रामक और अपूर्ण है? सत्य से उसका कोई भी सीधा संबंध नहीं है? यदि हाँ तो, उर्दू लिपि का गुणागान क्या? यदि नहीं तो उक्त विधान का अर्थ क्या?

नागरी के गुणगान की आवश्यकता नहीं। सभ्य संसार आरंभ से ही उसका कायल है। अतएव यहाँ पर केवल इतना भर स्पष्ट कर देना है कि लोकमंगल तथा राष्ट्रहित की शुद्ध दृष्टि से ही बाबू शिवप्रसाद ने नागरी का पक्ष लिया था और रोमन लिपि की हिमायत करने के बाद, समझ आ जाने पर, आजीवन नागरी का व्रत लिया था; कुछ द्वेष या हठधर्मी के कारण कदापि नहीं। दुनियाँ जानती है कि उनकी भाषा-नीति उर्दू के सर्वथा अनुकूल थी और उनकी 'आमक़हम' जवान उर्दूवालों की आम फहम, जवान से कुछ भी भिन्न न थी। फिर भी 'नागरी' की हिमायत के कारण उन पर उस विष-बीज का लांछन लगा जो आज 'हिंदी-उर्दू विवाद' के रूपमें चारों ओर अच्छी तरह से लहरा रहा है और उसके सच्चे विधाता सर सैयद अहमद खां आज हिंदी-उर्दू एकता के पेशवा माने जाते हैं। यह है हमारी खोज और सत्यनिष्ठा का सच्चा स्वरूप जिसे हम एक खुदा की देन के रूप में शौक से कबूल कर रहे हैं और 'हक' को जहन्नुम का ठेकेदार बना रहे हैं।

खैर, थोड़ा यह भी जान लीजिए कि—

† आरंभ में बाबू शिवप्रसाद रोमन लिपि के पक्षपाती थे, किंतु बाद में उन्होंने रोमन लिपि का भी विरोध किया और अपनी सहज साधुता के कारण नागरी को ही महत्व दिया और शिक्षा-प्रचार के लिये उसी को उचित ठहराया। उसी को सुगम तथा सुबोध माना।

“देखने में फ़ारसी से उर्दू सरल जान पड़ती है और फ़ारसी के बढ़ने में उर्दू का प्रचलित करना सुगम जान पड़ता है और इसी से इसका प्रचार किया गया, परन्तु विचार करके देखा जाय तो इससे महा अनिष्ट हुआ है और देश में विद्या की चर्चा बहुत ही घट गई तथा सर्वसाधारण को भी कठिनता पड़ी और समय समय पर हाकिमों को भी धोखा खाना पड़ता है। फ़ारसी एक स्वतंत्र विद्या है, उसे तब तक कोई नहीं समझ सकता जब तक कि वह उसे अच्छी तरह पढ़ न ले, इसलिये जब तक फ़ारसी थी लोगों को उसमें पूरी योग्यता प्राप्त करने पड़ती थी, दूसरे फ़ारसी में स्थानों और व्यक्तियों आदि के नामों के अतिरिक्त और सब बातें उसी भाषा के शब्दों में लिखी जाती थीं जिनको कि नियमपूर्वक पढ़े बिना कोई समझ नहीं सकता था, और तीसरे जो अक्षर में लिखे जाते थे वही भाषा रहती थी। इससे कुछ का कुछ नहीं पढ़ा जाता था। इसके ठीक विपरीत उर्दू की दशा है, एक तो उर्दू कोई भाषा नहीं है। यह फ़ारसी, अरबी और हिंदी के आधार बिना बन नहीं सकती और इन तीनों भाषाओं में योग्यता प्राप्त करें, ऐसे कम लोग होते हैं। इससे उर्दू पढ़कर कोई विद्वान नहीं बन सकता। दूसरे, अक्षरों को पढ़ने लगे और उसमें अपने हृदय के भावों को लिखने का अभ्यास हो गया अब और कौन समय लगावै। उसी अर्ध-कचरी अवस्था में रह गए। उनके विद्वत्ता की यह दशा है कि यदि उन्हें ‘साबित’ लिखना है तो वह यह नहीं जानते कि ‘सा’

को 'से' से लिखें या 'स्वाद' से या 'मीन' से, योंही 'त' को 'ते' से लिखें या 'तो' से, क्योंकि जिस भाषा के शब्द उममें आए हैं उससे तो वह परिचित है ही नहीं करें क्या निदान विद्या की गंभीरता सर्वथा जाती रही। तीसरे अक्षर भ्रामक और एक उच्चारण के कई अक्षर जैसे 'अ' के दो, 'त' के दो, 'स' के तीन, 'ज' के तीन, 'र' के दो, इत्यादि। तथा मात्राओं का काम केवल जेर, जबर, पेश के बिन्दुओं से लिया जाता है। वह भी प्रायः लिखे नहीं जाते केवल अनुमान से समझे जाते हैं। ऐसी दशा में दूसरी भाषा के शब्द इन अक्षरों में कभी ठीक ठीक पढ़े लिखे नहीं जा सकते और यही सारी कठिनाइयों की जड़ है। चौथे फारसी के प्राचीन अदालती कागजात जहाँ तक देखे जाते हैं प्रायः नस्तालीक़ अर्थात् सुगम लिखे हुए मिलते हैं क्योंकि कठिन भाषा होने के कारण लोग उन्हें सबने पढ़े जा सकें इसलिए साफ लिखते थे और सब लोग यह समझ कर कि यह भाषा सबकी समझ में आनेवाली है इस ओर ध्यान ही नहीं देते और ऐसा शिकस्तः लिखते हैं कि दूसरे की कौन कदै प्रायः स्वयं ही नहीं पढ़ सकते।" (ना० प्र० पत्रिका, १८९८ ई० पृ० ११६-७)

स्वर्गीय बाबू राधाकृष्णदास जी के उक्त कथन में यदि किसी को हठधर्मी या पक्षपात दिखाई दे तो कृपया वह एक बार उर्दू के धुरंधर कवियों के दावों पर विचार कर ले और जरा बता तो दे कि अभी कल के कवि सम्राट् मौलाना 'दाग' के इस कथन

का अर्थ क्या है कि—

“नहीं खेल है ‘दाग’ यारों से कह दो,
कि आती है उर्दू जबाँ आते आते।”

याद रहे, डाक्टर इकबाल जैसे विश्व-विख्यात फारसी के अनूठे कवि को भी जीवन भर नाक रगड़ने पर ‘उर्दू’ नहीं आई और वह कभी उर्दू के ‘जबाँदाँ’ न बन सके। फिर तो और किसी, विशेषतः हमारी आप की बात ही न्यारी है। तभी तो बंगाल के लेफ्टेंट गवर्नर श्री कैम्बेल महोदय का दावा है—

“किताबों में चाहे इस ज़बान, (उर्दू) के मुतल्लिक कोई कुछ लिखे लेकिन हकीकत यह है कि उर्दू ज़बान अह्म दरबार और देहली की तवायफों की ज़बान है। इसको मुल्क की

† ‘तवायफों की ज़बान पर हँसने या गुर्राने का काम नहीं बल्कि याद कर लेना चाहिए कि उर्दू की असली हकीकत क्या है और क्यों डाक्टर अब्दुलहक सरीखे उर्दू अदीब की निगाह में उर्दू औरतों की ज़बान है’ और क्यों लोग अपने बच्चों को उर्दू की तालीम के लिये अपने आप ही तवायफों के पास भेजते थे और उन्हें ज़बान का उस्ताद समझते थे। कहना न होगा कि श्री कैम्बेल महोदय को उर्दू के घरघाट का पूरा पूरा पता था और वह उसकी नब्ज को पहचानते भी खूब थे। उन्होंने उसकी जो छानबीन कर दवा की वह निहायत ठीक और दुरुस्त थी। उनका निदान उर्वर और सटीक था, किसी

मुश्किल: ज़बान नहीं कह सकते। मैंने पूरा इरादा कर लिया है कि जहाँ तक मेरा बस चलेगा इस ज़बान की तालीम को जो हमारे मदरसों में दी जाती है, रोकने की कोशिश करूँगा। मैं फ़ारसी ज़बान के मदाहों में हूँ। यह एक नफ़ीस और पुर-तकल्लुफ़ ज़बान है। अगर फ़ारसी ज़बान की तालीम दी जाय तो मुझे कोई एतराज नहीं बरातें कि हालात ऐसा करने के मुवाफ़िक़ हों। लेकिन बिगड़ी हुई अरबी और बिगड़ी हुई फ़ारसी के मेल से जो ज़बान तैयार की गई है जिसमें हिंदुस्तानी के कुछ थोड़े से अफ़ज़ाल वो हुरुफ़ फ़जाइय: (Conjunctions) शामिल कर लिए गए हैं जिसे उर्दू कहते हैं, हरगिज़ इस काबिल नहीं कि उसकी तालीम दी जाय।” (उर्दू, वही जुलाई नन् १९३८ ई० पृ० ५२०)

कदाचित् अब यह कहने की आवश्यकता न रही कि क्यों श्री कैम्बल महोदय ने बिहार की कचहरियों से उर्दू को निकाल दिया और क्यों उसकी जगह नागरी या हिंदी को चालू किया। पर एक बात याद आ गई। उन्हीं मौलाना हाली ने इस पर अज्ञान पर अवलंबित या किसी प्रमाद या भ्रम का शिकार नहीं। विचार करने की बात है कि एक फ़ारसीभक्त सपूत ने उर्दू का बहिष्कार अथवा निषेध क्यों कर दिया। कारण लोकमंगल और सत्यनिष्ठा के अतिरिक्त और क्या है? कूटनीति तो कही जात। जब दोनों को एक साथ ही त्याग दिया जाता।

रंग चढ़ा कर उर्दू की हिमायत की है और तमाम हिंदियों को गुमराह कर दिया है जिन्हें उर्दू में सिर्फ उतना ही अंश फारसी-अरबी का दिखाई देता है जितना कि 'आटे में नमक' उनका कहना है—

“लेफ्टेंट गवर्नर बंगाल भागलपुर की साइंटिफिक सोसायटी में आए और सोसायटी की तरफ से उनको ऐड्रेस ऐसी उर्दू में दिया गया जिसमें इबरात आराई की गर्ज से अरबी और फारसी के अल्फाज कसरत से दाखिल किए गए थे। और उसका समझना एक ऐसे यूरोपियन हाकिम को जो हमेशा बंगाल में रहा हो आसान न था। बिहार के तालीमयाप्त हिंदू पहले ही से तहरीक कर रहे थे कि जिस तरह बंगाल में बंगल: ज़बान और बंगल: खत अदालतों में जारी हो गया है उसी तरह सूब: बिहार में बिहारी ज़बान और कैथी हर्फ जारी किए जायें। चूंकि हिज़ आनर ऐड्रेस के बहुत ही कम अल्फाज समझे थे उन्होंने कहा कि जिस ज़बान में यह ऐड्रेस पढ़ा गया है यह हरगिज़ मुल्की ज़बान नहीं है और यह ज़बान बिहार में जारी नहीं रह सकती। चुनांच: उन्होंने चंद रोज़ बाद हुक्म दिया कि बिहार की तमाम अदालतों में कैथी हर्फ और जो ज़बान कैथी हफ़ों में लिखी जाती है जारी हो।” (हयात जावेद, वही, प्रथम भाग, पृ० १४१)

विचार करने की बात है कि जिस बिहार के कलक्टरों को सन् १७९३ ई० में यह आदेश मिला था कि अपनी मुहरों

पर हिंदुस्तानी भाषा और नागरी लिपि को स्थान दें (रेग्यूलेशन २ से० ५, १ मई सन् १७९३ ई०) उसी बिहार की अदालतों में न जाने किस आधार पर एक ऐसी भाषा का प्रचार हो गया जिसको उक्त लेफ्टेंट गवर्नर साहब ने बिगड़ी अरबी और बिगड़ी फारसी का एक देशी रूप कहा है । सौभाग्य से इस समय हमारे सामने उक्त साहब का वह कथन मौजूद है, जिसे झुठलाने की मौलाना हाली इस तरह कोशिश कर रहे हैं और पाठकों पर यह रग जमाना चाहते हैं कि अज्ञानवश उक्त महोदय ने उर्दू की जगह न जाने किस जबान को चालू कर दिया जो 'कैथी हफ़ों' में लिखी जाती है । मौलाना हाली तो अब नहीं रहे, पर हम उनके हमजोलियों को साफ साफ जता देना चाहते हैं कि वह जबान हिंदुस्तानी है 'हिंदुस्तानी' । वही हिंदुस्तानी जिसे कपनी सरकार ने आरंभ में लोकभाषा के रूप में अपनाया था और फारसी के साथ उसी तरह कचहरियों में चालू रखा था जिस तरह देहली दरबार अथवा मुगल सरकार ने । विश्वास न हो तो कृपया स्वर्गीय बाबू राधा-कृष्ण दास के इस कथन पर ध्यान दीजिए और स्वयं देखिए कि तथ्य क्या है । उक्त बाबू साहब कहते हैं कि—

“औरंगज़ेब के उत्तराधिकारियों को अपने भगड़ों और मुसल्मानी राज्य के जड़ खोदने से अवकाश कहाँ था जो कुछ परिवर्तन करते ? वही प्रथा प्रचलित रही । इसके प्रमाण में मेरे अधिकार में उस समय से लेकर अंगरेज़ी राज्य के आरंभ

तक इसी तरह के अनेक क़िवाले आदि वर्तमान हैं परन्तु उनको प्रकाशित करना अनावश्यक समझ कर मैं ठीक इसी तरह के अगरेज़ी राज्यारंभ के एक क़िवाले के हिंदी अंश की नक़ल उद्धृत करता हूँ ।

मुहर क़ाजी
की फ़ारसी में

मुहर मुफ़्ती
की फ़ारसी में

(फ़ारसी का क़िवाला)

... ..

संवत् १८६७ मी० जेठ सुदी १ बार सुभ दीने वीकरी करता धवल वोम्हा गजराज वोम्हा के बेटा मोहकम वोम्हा के पोता बराभन बीच कजाये बुलदै बनारस के हाज़िर आये कै एकरार कीया की एक मंजिल बाग़ समेत चारिबदीवार ईट समेत जमीन इमारत महला कासीपुरा जो बनारस में है पैमाइस पीरन राज जुमीला जमीन गज ११५८)। २ बहर कीता पहीला तूल पूरब पछीव समेत दोनों दीवार गज ८७)। तरफ दखिन गज ४४) तरफ उत्तर गज ४३)। करार अधिया ४३)।।। अरज उत्तर दखीन समेत दोनों दीवार गज २६)।।। मोकसर गज ११४३)।। २ बहार कीता दूमर वा खोची तरफ पूरब तूल उत्तर दखीन गज ४) पूरब पछीव गज १)।। मोकसर गज ६) वा इमारत एक बंगला खपरापोस तरफ से उत्तर वा एक घर खपरापोस तरफ दखीन वा कुआं पका वा एक दलान तरफ पूरब वा दो

दरखत दाखील बाग बीके मों है तेकी चारो हद—

पूरब तालाब, पछीव गली, उत्तर गली, दखीन गली, चलती
मैदागीन चलती दुवा-खास वा मं—

रा पनारा दिल गनेस

जो बड़े वा

दुआरा प-

नारा वा-

तीन खीर-

की बाला

खाने की इ

धर है

ममलूका खरीद मेरा है वा केवाला समेत मोहर हजरत
तुमारे के पास रखता हौं वा मैं अब तको बीजा सरीकत दूसरे
के ऊपर उसके काबीज हौं अब तमामी बाग कीता २ बदले
रुपैया ८७५) सीका हाली आधा रुपैया ४३७॥) बदमत हुकुम-
चद बीहारीलाल के बेटा ठाकुर दास के पोता अगरवाला
तीसके हाथ बुड़ा बुड़ा कै (?) बेचा बेचा रुपैया सभ दाम
दाम खीरीदार से ले कै अपने खरच में ले आया । मैं तब जीमा
खरीदार का खलाम भया खरीदार कीता २ ऊपर कबुजीअत
अपनी ऊपर ततामी बाग जमीन वै पर काबीज कीया मैं खरी-
दार मजीलीस में हाजीर था मोल जमीन बाग रुपैया पर
कबूल करकै एकरार कीया की अपर कबुजियत बेचनेवाले ऊपर

तमासी बाग जमीन बै पर काबीज हुआ मैं आगे कोई इसका दावा भगरा करें तौ भूठा भूठा इसका जवाब बेचने वाला करै खरीदार से इलाका नार्ही ता० २९ रबीउल्सानी सन् १२२५ हीजरी दः हीदुड संकरलाल गुः कानीगो……” (नागरी प्र० पत्रिका सन् १८९८ ई०, पृ० १२२-३)

मौलाना हाली सर सैयद के इशारे पर चाहे जो कुछ रचते रहें पर इतना निर्विवाद है कि अपनी सत्यनिष्ठा और दिलेरी के कारण ही बगाल के फारसी-प्रेमी छोटे लाट साहब ने कचहरियों में हिंदी को दाखिल किया और उस गड़बड़ जवान को जिसे उर्दू कहते हैं, वहाँ से निकाल बाहर किया। मौलाना हाली का यह कहना है कि फारसी अरबी के अल्फाज उनकी समझ में एक यूरोपियन होने के कारण न आ सके, सरासर गलत है। उन्होंने स्वयं अपने भाषण में फारसी की प्रशंसा की है और यदि वश की बात होती तो शिक्षा के लिये फारसी को ही ठीक ठहराने में कुछ कसर भी न रखते। पर करें क्या, परिस्थितियाँ फारसी के बिल्कुल प्रतिकूल थीं। निदान उनको कहा पड़ा—

“हिंदी और हिंदुस्तानी के मुतल्लिक मेरा ख्याल है कि इन दोनों को इस तरह सिखाना चाहिए गोया वह दोनों एक जवान हैं। जो दो मुस्तलिफ रस्म खत में लिखी जाती हैं। मैंने अभी जो कुछ कहा है उससे अन्दाजः कर लिया गया होगा कि मैं कदीम और दक्रियानूसी हिंदी की हिम्मत अफजाई के

खलाफ हूँ। हिंदी की जो क्लास की किताबें सूबाजात शुमाल मगारिबी (यू० पी०) में छपा जा रही हैं उनमें फारसी के ऐसे अल्फाज इस्तमाल किए जाते हैं जिन्हें लोग समझ सकें। अगर इन्हीं किताबों को फारसी रस्मखत में लिखा जायें तो वह ऐसी खालिस हिंदुस्तानी जवान बन जायेगी जिसको रायज देखने की मेरी दिली रुवाहिश है ।” (उर्दू, जुलाई सन् १८३८ ई० पृ० ५२२-३)

कितनी अजीब बात है कि जो ‘हिंदुस्तानी’ कंपनी सरकार के विधानों में सदैव ‘नागरी’ लिपि के साथ आती है और ‘हिंदी’ ही समझी जाती है वही अब एक हिंदी से अलग जवान मानी जाती है और उसके लिये फारसी रस्मखत लाजिमी हो जाता है। गोया हिंदी को हिंदुस्तानी बनने के लिये अब फारसी खत को अपना लेना अनिवार्य हो गया। हिंदुस्तानी हिंदुस्तान की चीज नहीं फारस की ईजाद हो गई। फारसी जामा के बिना अब वह हिंदुस्तानी नहीं कही जा सकती। कैसा होता है दिनों का फेर ! कैसा होता है हृदय का द्रोह ! कैसा होता है आत्मा का विनाश ! सब कुछ गया तो गया; पर फारसी भाषा के साथ नागरी लिपि क्यों चली गई ? उसके साथ सती तो फारसी लिपि को होना था। फिर सूली पर नागरी लिपि क्यों चढ़ा दी गई ? कहना न होगा कि इसी के उत्तर में आपका उदय छिपा है और इसी के हल में आपका भविष्य मँडरा रहा है। यदि समय हो, सुधि हो, आत्म-

संमान की भावना कुछ बची हो तो उठो, चेतो और आगे बढ़ कर उस नागरी का स्वागत करो जो अपनी सत्यनिष्ठा में अद्वितीय है। अरे, वह भारत की सबसे बड़ी देन है। उसे व्यर्थ ही देश से बाहर मत खदेड़ो। उसे हिंदुस्तानी के साथ बनी रहने दो। फारसी के साथ फारसी खत को बिदा करो और फारसी चाशनी को हिंदी में भर दो। व्यर्थ का पाखंड न करो। दीन की आत्मा को पहचानो। नागरी का साधुता पर ध्यान दो। 'शिकस्त और 'जाल' से बचो। उसकी पुकार, गुहार और दुहाई को सुनो। उसकी पुकार है—

“गरीब परवर सलामत ! दासी को सब देशवासी 'नागरी' ऐसा नाम लेकर पुकारते हैं। मैं संस्कृत देव की बड़ी पुत्री हूँ। यथार्थवादी हूँ। अर्थात् जैसी लिखी जाती हूँ वैसी पढ़ी जाती हूँ। मेरी वर्णमाला में यह बड़ा गुण है कि दुनिया के चाहे जिस भाषा का शब्द हो शुद्ध और साफ लिखा पढ़ा जा सकता है।

कृपानिधान !

अपने मुख से अपना बखान क्या करूँ। ठुकर श्रीमान विलसन, ग्रिफिथ, मोनिथर विलियम्स, मैक्समूलर, बेलन्टाइन, फेलन, ग्राउस, बगैरह साहबों ने जो मेरी प्रशंसा अपनी पुस्तकों में लेखनीबद्ध की है, देखिए तब मेरे गुण अच्छी तरह प्रगट हो जायेंगे। जो यह कहिए कि कचहरी में तेरी पहुँच नहीं तो हमारे पिता जी संस्कृत देव की बड़ी २ पुस्तकें जब कि शास्त्र

की, कानून की, कविता की, चिकित्सा की देवनागरी ही अक्षरों में प्रस्तुत हैं—नित्यके काम में, महाजनी पत्रादि में, हित मित्र के परस्पर पत्र व्यवहार करने में इन्हीं सुअक्षरों को काम में लाना होता है—यह समझना बड़ी भूल है कि सरकारी दफ्तरों में हिंदी जारी होने से कोई हर्ज कार सरकार या रैयत का होगा। बहुत से आफिसर अमले के कचहरी और कमेटियों में उर्दू ही बोलते और लिखते हैं पर हुजूर खूब समझ रखें कि जब यही लोग अपने घर में स्त्री बालकों के बीच जाते हैं तो एक तरफ से उनके प्यारे बच्चे तुतराते हुए उनकी गोद में आ चिपकते हैं और उनकी स्त्री मीठे मीठे सुर से बातचीत करने लगती है। उस समय श्रीमान का समस्त व्योरा और का तौर हो जाता है, महाशयों के वे सब अर्वी और पारसी के शब्द भूल जाते हैं जिन्हें वे खोज २ अपनी बातों और लेखों में घुमड़ते हैं और सीधे सादे हिंदी के मधुर शब्द उनके मुँह से निकलने लगते हैं।

गरीबपरवर !

जब हमारे हाकिम लोग प्रजा के साथ अधिक से अधिक हेलमेल और प्रेम बढ़ावेंगे तब यह सब भेद धीरे धीरे आप प्रगट हो जावेंगे।

बन्दे नेवाज ! जब नागरी हरूक के गुण जाहिर हैं और इन्हीं का हमारी मातृ भाषा होना साबित है तब यह प्रश्न जी में होता है कि इसको कचहरियों में प्रचलित करने से क्या हानि

सूचित हैं और हमारे पुत्रों ने बार बार इस विषय पर आंदोलन किया तब गवर्नमेंट ने क्यों नहीं ध्यान दिया। इस विषय पर यदि मैं बढ़ाव के साथ लिखूँ तो एक बड़ी पोथी बन जाय। परंतु कृपानिधान ! आपका अधिक समय एक ही बात पर नष्ट करना नहीं चाहता, इसे थोड़ी और बातें संक्षेप रीति से कह कर विनयपत्र समाप्त करूँगा।

जनाब आली !

दामानुदास ने सुना है कि श्रीमान लार्ड रिपन साहेब की यह सम्मति है कि हिंदुस्तान में प्रजा की भलाई उसी दशा में हो सकती है जब कि शिक्षा का असर सर्व साधारण में उत्पन्न हो और साधारण प्रजा में परस्पर मित्रता हो, इसलिये श्रीमान ने बहुत मुद्रा व्यय कर बड़ी सरगरमी से 'एडुकेशन' कमीशन यानी शिक्षा के विषय तहकीकात की कमेटी मुक़र्रर किया था। परंतु प्राइमरी एडुकेशन कभी उत्तम नहीं हो सकती। जब तक नागरी अक्षर कचहरियों में जारी न किए जायेंगे, जब तक कचहरी की वही भाषा न होगी जो सब प्रजा की भाषा है, तब तक हमारे शिक्षाविभाग में लार्ड रिपन साहेब के प्राइमरी एडुकेशन का कुछ भी फल नहीं हो सक्ता। सम्पूर्ण बालकों के खेल समान नाममात्र को रहैगा।

महाशय !

तनिक ध्यान दीजिये कि पश्चिमोत्तर देश के सम्पूर्ण भागों में किस व्यय और उद्योग से सरकारी, तहसीली वो हल्काबंदी

पाठशाले नियत हैं। परन्तु जब हमारे भाग्यहीन बालक इन पाठशालाओं में वर्षों परिश्रम करने के पश्चात् पढ़ लिख कर मिडिल क्लास के परीक्षा में उत्तीर्ण होते हैं अथवा गवर्नमेंट कालिजों में इंट्रेंस क्लास की परीक्षा में उत्तीर्ण हो कर जब जिला के अधिकारियों के पास अपनी नौकरी के लिये प्रार्थना करते हैं तो यही उत्तर मिलता है कि 'तुम्हारी जबाँदानी उर्दू फारसी में न थी, इसलिये तुमको नौकरी नहीं मिल सकती।' कहाँ तक अपना दुःख रोबैं। मेडिकल कालेज के इम्तिहान में भी यही रीति हो गई है कि उर्दू जाने बिना परीक्षा देने के इन्तुफ भरती नहीं किये जायें। शिक्षाविभाग के डाइरेक्टर की यह आज्ञा है कि हमारे पाठशालाओं में केवल उर्दू ही अंगरेजी के सुलेखक विद्यार्थी पारितोषिक पावैं। हिंदीवाले कदापि नहीं। क्योंकि नागरी कोर्टलांगवेज नहीं हैं। इस देश में आपको कैसे आशा हो सकती है कि प्रथम श्रेणी के नागरी के सुलेखक क्षणमात्र में यूथ के यूथ मिल जायें। तनिक आप इस भाषा की दशा पर तो ध्यान दीजिए कि इसके आदर सम्मान करने वाले तो परे रहैं पर मुख से पूछनेवाला कोई नहीं है। महाशय ! यदि यही दशा रही तो मेरे बेचारे बालबच्चों का कैसे बेड़ा पार लगेगा। मैं तो किसी २ प्रकार अपना पालन पोषण भी कर लेती हूँ अर्थात् कुछ समय अपने भाई वंगवासी के साथ व्यतीत करती हूँ, कभी अपने भ्राता बिहारी शुक्ल के पास सूबे बिहार में जा रहती हूँ, कभी कमाऊ, गढ़वाल की तराई में अपने

महोदर भाई दुर्ग विजयनाथ के पास टिक जाती हूँ, कभी प्रपने योग्य प्यारे भाई नाना भाई हरीदाम के साथ बम्बई में रहती हूँ और थोड़े दिवस बीते कि मुझ तपस्विनी के लिये शृंगारबाद में भी मेरे पुत्रों ने कुटी बनाई है। निदान इसी प्रकार केसी २ भाति अपने भाई बधुओं में जा दिन बिताती हूँ। परंतु हाय ! मेरा कैसा वज्र सम हृदय है कि अपने बालकों की यह दुर्दशा देखकर जीती हूँ और सुखपूर्वक नींद लेती हूँ। महाराज ! यदि मेरी जीविका नियत हो जायगी तो मैं इन अनाथ बालकों को भली भांति जियाय लूँगी और मेरी जीविका नियत हो जाने पर पहले की अपेक्षा मुद्रा की भी अधिक आवश्यकता न पड़ेगी जैसा कि बहुधा महाशयों की सम्मति है कि नागरी के कोर्टलांगवेज होने से बहुत मुद्राव्यय होगा और इसके कोर्टलांगवेज होने की सुगमता में बराबर बिहार के कलेक्टरों की रिपोर्ट साक्षी दै रही है। जो कुछ मेरी विनय थी सब सुना चुकी। अब केवल सरकार की इच्छानुसार ठीक है। यदि कृपा हुई तब तो तब विधि मैं अच्छी ठहरी, नहीं तो ऐगुण की खानि—
कहावत विदित है—

दो०—कितौ कुरुपिनि कुटिल खल कुलटा बनत स्वकीय।

जा कहँ मानै पीय बड़, वही सती जग तीय ॥”

(नागरी विलाप, बनारस लाइट यंत्रालय, सन् १८८५ ई०

रामगरीब ❀ चौबे नामक जिस विद्यार्थी ने प्रकृत 'विलाप' लिखा है उसकी प्रार्थना है—

“प्रिय 'नागरी-विलाप' के पाठको ।

मैंने बहुधा तुम्हें इस दुखिया नागरी के विषय में विलाप करते और इसके गुणों को श्रीमान इंग्लैंडीय शासन कर्त्ताओं को सुनाने की इच्छा करते सुना है, परन्तु मुझे दृढ़ विश्वास है कि आपने इस नागरी के वर्तमान समय के विलाप और दशा को सुना या देखा न होगा । अतएव इस छोटीसी पुस्तक द्वारा आप लोगों को उसकी दशा दरसाने का विचार कर मुद्रित कराया है । आशा है कि आप इस विलाप को सुन दया कर अधिक दुःख निवारण में कटिबद्ध होंगे । देखिएगा यह समझ छिप न रहिएगा कि हम दुःख निवारण में समर्थ नहीं तो विलाप भी न सुनें । जब विलाप सुनिएगा तो स्वयं आपको बल हो जायगा और यह विलाप केवल विलाप ही नहीं किन्तु आपको कुछ आनन्ददायक भी होगा, क्योंकि दुखी बुढ़िया

❀ दुःख है कि अभी तक हम इस गरीब विद्यार्थी के विषय में विशेषरूप से कुछ भी न जान सके । यहाँ हमें केवल इतना भर संकेत कर देना है कि नागरी का पक्ष राजनीति के पहलवानों ने नहीं बल्कि शिक्षा और ज्ञान के पुजारियों ने लिया । क्यों लिया, इसका उत्तर प्रत्यक्ष और स्पष्ट है । उसी के द्वारा ज्ञान का प्रसार और शिक्षा का प्रचार सुगमता से हो सकता है, कुछ ज्ञान की बैरिन उर्दू के द्वारा नहीं ।

ने आपको और अपने को सुखी करने का उपाय भी किया है ।” (वही, भूमिका)

राम गरीब विद्यार्थी का ‘विलाप’ व्यर्थ न गया । उसका ‘उपाय’ काम कर गया । ‘दुखी बुढ़िया’ के विलाप से पसीज कर एक भारत के सपूत ने वह कर दिखाया जो आज तक और किसी से न हो सका । वह वक़ील था । वक़ालत करना जानता था । कचहरी के विषभरे कोड़ों से भलोभाँति परिचित था । निदान उसने सच्ची लगन के साथ एक पुष्ट ❀ पोथी तैयार की और बड़ी तत्परता से उसे सरकार में पेश किया । उस समय साखियों की कमी न थी । प्रमाण भी भरे पड़े थे । कमी थी तो केवल एक बात की । एक ऐसी बात थी जो अपने अधोन न थी । भाग्यवश वह कमी भी पूरी हो गई । उस समय एक दिलेर, सत्यनिष्ठ और न्यायप्रिय शासक की ज़रूरत थी जो रात को रात तथा दिन को दिन आसानी से कह सके,

❀ खेद है कि महामना पंडित मदनमोहन मालवीय जी को इस रचना का कुछ भी प्रचार न हुआ और फलतः उनका यह काम भी उनके स्वभाववश अधूरा रह गया । यदि उनकी ‘कचहरी की लिपि और प्राइमरी शिक्षा’ का उचित प्रचार हो जाता और उनकी नागरी-निष्ठा भी बनी रहती तो आज हिंदी की दुनिया कुछ और ही होती । उसे दर दर मारी फिरने की ज़रूरत न पड़ती और वह एक मात्र यहाँ की राष्ट्रलिपि तथा राष्ट्रभाषा के रूप में दिखाई पड़ती ।

कूटनीति के साथ ही साथ राजनीति का पालन भी कर सके। सौभाग्य से ऐसा शासक भी युक्त-काल में आ गया था। अवसर देख कर उसके सामने नागरी की गोहार लगी और उससे स्पष्ट कहा गया—

“कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स ने यह आज्ञा दी थी कि न्यायालयों की समस्त कार्रवाई उस स्थान की देशभाषा में हो और जब श्रीमान गवर्नर जनरल ने यह कहा था कि माल और न्याय संबंधी सब कार्रवाई उसी भाषा में हो जिसे सर्वसाधारण समझ सकें तथा जब उन्होंने फ़ारसी के स्थान पर देशभाषा के प्रचार की आज्ञा दी थी तब उनका यही आशय था कि देशी भाषा का प्रचार देशी अक्षरों में हो, न कि विदेशी अक्षरों में। जब कभी हम किसी भाषा के विषय में कुछ कहते हैं तब उन अक्षरों का आशय जिनमें वह भाषा साधारणतः लिखी जाती है हमारे कथन के अंतर्गत माना जाता है। गवर्नमेंट ने जब देशभाषा के प्रचार की आज्ञा दी थी तो उस आज्ञा का स्पष्ट उद्देश्य यही था कि कचहरियों का कार्रवाई ऐसी भाषा और ऐसे अक्षरों में हो कि जिसे सर्वसाधारण भलीभाँति समझ और पढ़ सकें और यह उद्देश्य तब तक सफल नहीं हो सकता जब तक देश-भाषा का प्रचार विदेशी अक्षरों में रहेगा।

प्रारंभ में यह लिखा जा चुका है कि सन् १८३० और १८३७ के बीच में इस बात पर बड़ा विवाद चलता था कि फ़ारसी के स्थान पर किस भाषा का प्रचार हो। उस समय

कुछ लोगों की यह संमति थी कि देशभाषा का प्रचार हो, परंतु रोमन अक्षरों में। पर गवर्नमेंट ने इस संमति को स्वीकार नहीं किया। इससे यह स्पष्ट प्रगट होता है कि गवर्नमेंट की यही इच्छा थी कि देशभाषा का प्रचार देशी अक्षरों में ही हो। पुनः सन् १८९३ ई० में यहाँ रोमन का झगड़ा उठा था और उस समय श्रीमान् लेफ्टिनेंट गवर्नर ने इसपर विचार करने के लिये एक छोटी सी कमेटी बनाई थी। पर उस कमेटी की संमति जो रोमन के क्रमशः प्रचार के पक्ष में थी, गवर्नमेंट को स्वीकृत न हुई और श्रीमान् सर एंटोनी पाट्रिक मेकडानल ने यह सोच कर कि रोमन का प्रचार होने से सार्वकारी अफसरों को देशभाषा सीखने की बाध्यता कम हो जायगी जो किसी प्रकार से बांझनीय नहीं है, उस प्रस्ताव को अस्वीकृत कर दिया। भारतवासियों से अपनी भाषा विदेशी अक्षरों में लिखने को कहना उतना ही समोचीन जान पड़ता है जितना कि अंग्रेजों से निज भाषा को नागरी अक्षरों में लिखने को कहना। एक शताब्दी तक उद्योग करने पर भी रोमन को सफलता प्राप्त न हुई और यह आशा कदापि नहीं की जा सकती कि प्राइमरी शिक्षा की उन्नति के साथ साथ कभी वह अवसर भी आएगा जब रोमन का किसी प्रांत में प्रचार हो।

पर यह समझ में नहीं आता कि जब गवर्नमेंट ने रोमन अक्षरों को अस्वीकार किया तो वह अब तक क्यों फारसी अक्षरों को यथास्थित छोड़े हुई है। जो दोष रोमन अक्षरों पर

लगाए जाते हैं वही दोष फारसी अक्षरों पर भी लगाए जा सकते हैं। इस बात के कहने को कोई आवश्यकता नहीं कि ये अक्षर विदेशी हैं और यद्यपि मुसल्मानी राज्य के प्रारंभ से इनका प्रचार अदालतों में है पर अब तक शिक्षित मुसल्मानों और उन हिंदुओं को छोड़ कर जिन्हें अपनी जीविका के लिये उन्हें सीखना पड़ता है, और कोई भी इन्हें नहीं सीखता। जनसाधारण तो इन्हें नाममात्र को भी नहीं जानते। वे अपना सब काम नागरी, कैथी वा महाजनी अक्षरों की सहायता से चलाते हैं। फारसी अक्षरों के प्रचार से यही फल उत्पन्न होता है कि वे लोग जिनका सर्वस्व अदालतों की कार्रवाइयों पर निर्भर रहता है, उसका एक अक्षर भी नहीं जान सकते, जब तक कि वे अत्यंत कष्ट उठा कर और बहुत कुछ व्यय करके उसे किसी मुहर्रिर या मुस्तार से न पढ़ाएं। दर्खास्तें और अर्जीदात्रे आदि सब फारसी अक्षरों में लिखे जाते हैं। परंतु वे लोग जो उनपर हस्ताक्षर करते हैं तथा जिनकी ओर से अर्जियाँ कचहरी में दी जाती हैं, उनका एक अक्षर भी नहीं समझ सकते। गाँव के लोगों को इससे बहुधा अकथनीय कष्ट उठाना पड़ता है। गवर्नमेंट की सदा यह इच्छा रहती है कि प्रजा के लिये सुखकर नियम बनाए जायें और वैसे ही प्रबंध हों। इसी इच्छा के अनुसार उसके सब कार्य होते हैं। परंतु यह समझ में नहीं आता कि ऐसी न्यायपरायण गवर्नमेंट कथित बातों को जान कर भी प्रजा के कष्ट को क्यों नहीं दूर

करती ? नागरी अक्षरों के प्रचार से सब कष्ट दूर हो जायेंगे, इस बात को गवर्नमेंट भी स्वीकार करती है; क्योंकि अवध में बेदखली आदि की नोटिसें हिंदी और उर्दू दोनों में निकलती हैं। बोर्ड आफ रेवेन्यू ने भी गत वर्ष यह आज्ञा दे दी है कि समन आदि हिंदी और उर्दू दोनों में लिखे जाया करें। बस इन कागजों को छोड़ कर पश्चिमोत्तर प्रदेश में (गढ़वाल और कमाऊँ जिलों के व्यतिरिक्त) कहीं भी हिंदी का प्रचार नहीं है।

फारसी अक्षरों के विषय में केवल यही नहीं कहा जा सकता कि वे विदेशी हैं तथा भारतवासो उन्हें नहीं जानते, वरंच ये अक्षर नितांत अपूर्ण और अत्यंत भ्रामक हैं। साधारणतः जिस प्रकार से ये अक्षर लिखे जाते हैं और विशेष कर अदालतों में जिस प्रकार की लिखावट होती है उससे बड़ा अनिष्ट होता है। इन अक्षरों में बड़ा भारी दोष तो यह है कि एक बार जो लिखा गया उसका ठीक वैसा ही पढ़ा जाना कठिन ही नहीं, कभी कभी तो असंभव हो जाता है। इन कारणों से अदालतों में इनका प्रचार सर्वथा असमोचीन है। शिस्तः फारसी से जो अनिष्ट होता है वह छिपा नहीं है। अनेक बार उसपर लिखा पढ़ी हो चुकी है। प्रोफेसर मोनियर विलियम्स ने ३० दिसम्बर सन् १८५८ ई० के टाइम्स नाम के पत्र में फारसी अक्षरों के दोष पूर्ण रूप से दिखाए हैं। उनका कथन है कि “इन अक्षरों को सुगमता से पढ़ने के लिये वर्षों का अभ्यास आवश्यक है।” के

कहते हैं कि इन अक्षरों में चार 'ज' होते हैं तथा प्रत्येक अक्षर के उसके प्रारंभिक, मध्यस्थ वा अंतिम रूप भिन्न होने के कारण चार भिन्न भिन्न रूप होते हैं । अंत में प्रोफेसर साहब कहते हैं कि—

“चाहे ये अक्षर देखने में कितने ही सुंदर क्यों न हों, पर न कभी पढ़े जाने योग्य हैं, न छपने योग्य हैं और पूर्व में विद्या और सभ्यता की उन्नति में सहायक होने के तो सर्वथा अयोग्य हैं।” (नागरी प्र० पत्रिका सन् १८५८ ई०, पृ० १३३ से ३६ तक)

प्रत्यक्ष ही है कि इन्हीं विद्या विरोधी अयोग्य अक्षरों का परिणाम है कि—

“केवल पश्चिमोत्तर प्रदेश तथा अवध और पंजाब इन्हीं दो प्रांतों में देशी स्कूलों द्वारा शिक्षा फैलाने में सफलता नहीं प्राप्त हुई है और ये ही वे प्रांत हैं जहाँ देशवासियों की भाषा और लिपि का अनादर कर उर्दू भाषा और फारसी अक्षरों का कचहरियों और दफ्तरों में प्रचार है । देशी स्कूलों को उत्साह पूर्वक बढ़ाने की संमति तो निस्संदेह उत्तम थी परंतु जो अभी कहा गया है उससे स्पष्ट है कि देशी स्कूलों की उन्नति सन् १८७१ ई० के बीच में जो नहीं हुई उसका कारण यह नहीं है कि मिस्टर टाम्सन की नीति के प्रतिकूल कार्य हुआ और उसका त्याग किया गया, वरंच जिस कारण से उस नीति के अनुसार कार्य करने में सफलता प्राप्त करनी ही असंभव थी वह उर्दू का

आदर और देशभाषा हिंदी का तिरस्कार था ।”

तो अब यह स्पष्ट है कि साधारण प्रजा में बिद्या का प्रचार हिंदी के कचहरियों में प्रचलित होने के साथ ही साथ होगा । अतएव यह आशा की गई थी कि एजूकेशन कमीशन जिसका मुख्य उद्देश्य प्रायमरी शिक्षा की अवस्था जानना और उसके उन्नति के उपाय बताना था, यह समति देगी कि कचहरियों और सरकारी दफ्तरों में उर्दू के स्थान पर हिंदी का प्रचार किया जाय । पर दुर्भाग्यवश उसने कुछ भी इस विषय पर न लिखा । पंजाब में प्रायमरी शिक्षा पर विचार करके उसने लिखा कि—

“उर्दू अभी तक सरकारी कचहरियों की भाषा है और जब तक यह रहेगी प्रायमरी स्कूलों में उसकी वृद्धि अवश्य होगी । बहुत से लोग ऐसे हैं जो उर्दू के बदले हिंदी का प्रचार होना चाहेंगे, परंतु इस बात के स्थिर करने में उसका उतना ही संबंध राज्यप्रबंध से है जितना शिक्षा विषय से । अतएव यह एक ऐसी बात है जिस पर कमीशन अपनी संमति नहीं दे सकती ।”
(वही पृ० १६०-१)

क्यों नहीं दे सकती, इसका कारण प्रत्यक्ष है, पर वह इसका अतली भेद नहीं । इसका रहस्य तो यह है कि—

“सर सैयद ने एक बाकायदह तरीक़ह से कमीशन पर यह जाहिर कर दिया था कि यह मसलह एजूकेशन कमीशन से कुछ एलाक़ह नहीं रखता, बल्कि एक बहुत बड़ा पोलिटिकल मस-

लह है, जिसके साथ गवर्नमेंट के ममालह मुल्की वाबस्तह है ।
पस इसकी बहस एजूकेशन कमीशन से कुछ एलाकह नहीं
रखती ।” (हयात जावेद, वही, प्रथम भाग, पृ० १४२)

उधर—

‘सैयद* महमूद ने अपनी मेंबरी के जमाने में १२
रिजोल्यूशन कमीशन में ऐसे पास कराए थे जो खास मुसलमानों
की तरक्की तालीम और बेहबूदी से एलाकह रखते थे ।’ (वही
पृ० २४५ फुटनोट)

पिता-पुत्र का प्रभाव जो ‘एजूकेशन कमीशन’ पर पड़ा था
उसी का यह जीता जागता नतीजा है कि शिक्षा का सच्चा प्रश्न
राजनीति का छल-छंद समझा गया और उस लिपि का प्रका-
रांतर से पोषण किया गया जिसे डाक्टर फिल्लोट जैसा मनीषी
विद्या-प्रचार का शत्रु समझता है और इस बात का संकेत भी
करता है कि आजकल की प्रचलित अरबी लिपि अरब की

* सैयद महमूद सर सैयद अहमदखाँ के पुत्र थे और
उनकी जगह ‘कमीशन’ में दाखिल हुए थे । सैयद रास मसूद,
जिनकी देख रेख में हैदराबाद में उर्दू का भितारा चमका और
उस्मानिया यूनिवर्सिटी को जन्म मिला, इन्हीं सैयद महमूद के
पुत्र थे । इस प्रकार हम देखते हैं कि इन पिता, पुत्र और पौत्र
ने मिलकर उर्दू को धीरे धीरे उस पद पर बिठा दिया जिसके
लिये आज भी हिंदी अपने देश में ही तरस रही है और किसी
कुञ्जा की अगवानी में लीन है ।

सनातन लिपि नहीं है। अरबों ने एक बार लिपि में परिवर्तन भी किया है। अतएव उसमें परिवर्तन कर लेना कोई अजीब बात नहीं।

खैर, “अब जरा बिहार और मध्य प्रदेश पर ध्यान दीजिए। जब सन् १८३९ ई० में गवर्नमेंट ने यह आज्ञा दी कि फारसी के स्थान पर देशभाषा का प्रचार कचहरियों और सरकारी दफ्तरों में हो तो यह समझ कर कि उर्दू इस प्रांत की भाषा है वह प्रचलित की गई, परंतु वास्तव में यहाँ की भाषा हिंदी थी और अब भी है, जो नागरी वा कैथी अक्षरों में लिखी जाती है। जब बंगाल के लेफ्टनेन्ट गवर्नर सर जार्ज कैम्बल हुए तो उन्होंने अपने शासन-काल का मुख्य कर्तव्य जनसाधारण में विद्या फैलाना माना और इसी उद्देश्य से सन् १८७२ ई० में चार लाख रुपये का व्यय स्वीकार किया। पर उनको यह सूझ पड़ा कि जब तक इस देश की भाषा और लिपि का प्रचार कचहरियों और दफ्तरों में न होगा तब तक विद्या का यथेच्छ रूप में फैलना संभव नहीं है। अतएव उन्होंने आज्ञा दी कि केवल अर्जियों को छोड़ कर जो हिंदी और उर्दू दोनों में देने वाले की इच्छानुसार हो सकती हैं और सब समन, नोटिस आदि हिंदी में लिखे जायें परंतु अमलों की दया से कई वर्ष तक इस आज्ञा का पालन न हुआ। अंत में सर एंगली ईडन के समय में इस बात पर गवर्नमेंट का ध्यान पुनः दिलाया गया और पहिली जनवरी सन् १८८१ ई० से पटना और भागलपुर कमिश्नरी में केवल हिंदी

का भी प्रचार है। इस न्यायशील और आवश्यक सुधार का फल अत्यंत संतोषजनक हुआ है, क्योंकि ३१ मार्च सन् १८७२ ई० में बिहार के प्रायमरी स्कूलों में केवल ३३४३० बालक थे और सन् १८९५-९६ के अंत में २६०४७१ अर्थात् अठगुने हो गए।

मध्यप्रदेश के उन स्थानों में जहाँ हिंदी बोली जाती है सन् १८७२ ई० तक फारसी का प्रचार था। सन् १८७२ ई० में इंडिया गवर्नमेंट ने यह आज्ञा दी कि नागरी अक्षरों का प्रचार हो, परंतु अमलों की अपार दया से सन् १८८१ तक इस आज्ञा का प्रत्यक्ष फल न देख पड़ा। इस वर्ष में जुडिशल कमिशनर ने चीफ कमिशनर के आदेशानुसार यह आज्ञा दी कि अर्जीदावे हिंदी में लिखे जाया करें, तथा डिग्री, हुक्म, फैसले आदि हिंदी में निकलें और कोई मनुष्य जो हिंदी शीघ्रता और शुद्धता से पढ़ लिख न सकता हो नौकर न रक्खा जावे। इस आज्ञा का पालन अब पूर्ण रूप से हो रहा है और शिक्षा पर इस परिवर्तन का प्रभाव बहुत अच्छा पड़ा है। अर्थात् सन् १८८१ ई० में प्रायमरी स्कूलों में ७४५२९ विद्यार्थी थे और १८९५-९६ के अंत में ११७८९६, अर्थात् ४३३६७ अधिक हो गये। पर पंजाब में जहाँ मध्य प्रदेश से जनसंख्या दूनी है और जहाँ विश्वविद्यालय और आर्यममाज प्रायमरी शिक्षा के लिये पूर्ण उद्योग कर रहे हैं गत १५ वर्ष में केवल १६००० विद्यार्थी बढ़े और पश्चिमोत्तर प्रदेश तथा अवध में ४९००० घट गए। इसका कारण और

क्या हो सकता है—केवल यहो है कि इन दोनों प्रांतों की कचहरियों और सरकारी दफ्तरों में देशभाषा के और देशी अक्षरों के बदले फारसी अक्षरों और उर्दू भाषा का प्रचार है।” (ना० प्र० पत्रिका, वही पृ० १५५ से १५७ तक)

नाना प्रकार के पुष्ट प्रमाणों को पेश कर अंत में प्रार्थना यह की गई कि—

“न्याय और शिक्षा के हित के लिये यह अत्यंत आवश्यक है कि परिचमोत्तर प्रदेश तथा अवध की अदालतों और सरकारी दफ्तरों में फारसी के स्थान पर नागरी अक्षरों का प्रचार किया जाय। इसके करने में किसी को कष्ट न होगा, क्योंकि इस प्रांत में प्रत्येक असिस्टेंट मजिस्ट्रेट और कलेक्टर, असिस्टेंट कमिशनर, डिप्टी कलेक्टर, इन्स्पेक्शन और फारेस्ट आफिसर और तहसीलदार तथा अवध में प्रत्येक मुंसिफ को नागरी अक्षरों में लिखी हुई हिंदी में परीक्षा देनी पड़ती है। इसलिये इन लोगों को इस परिवर्तन से कोई कष्ट न होगा। हाँ, अमला लोगों को अवश्य नागरी सीखनी पड़ेगी। यदि यह मान भी लिया जाय कि जितने सरकारी नौकर हैं सबको नागरी अक्षर सीखने पड़ेंगे तौ भी यह कोई ऐसी बात नहीं है, जिसके लिये न्याय का पथ छोड़ा जाय, विद्या का प्रचार रोका जाय और एक अत्यंत आवश्यक सुधार करने में विलंब किया जाय।” (वही पृ० १६८-९)

इधर तो महामना पंडित मदनमोहन मालवीय इस प्रयत्न

में लगे थे कि कुछ ऐसा उपाय किया जाय कि निरीह जनता में विद्या का प्रचार हो और काम-काज में सब तरह का सुभीता हो, किसी के लिये जाल या मायावो लिखा पढ़ी का स्रतरा न रहे, बल्कि सब लोग उस साधु लिपि का व्यवहार करने लग जायें जो बकौल मिर्जा इरफान अली बेग 'सात ही दिन में आ जाती है' और जिसकी समता सचाई में दुनिया की कोई दूसरी लिपि नहीं कर सकती; और उधर सर सैयद अहमद खाँ विस्तर पर पड़े पड़े कुछ और ही कांड रच रहे थे। मौलाना हाली के कथनानुसार—

“उनको यकीन हो गया था कि हिंदुओं का यह काम दर हकीकत महज कौमी तास्सुब पर मबनी है।……उन्होंने उर्दू ज़बान की मुखाजफत पर कभी सकूत एखतयार नहीं किया। यहाँ तक कि मरते मरते भी वह इस ड्यूटी का अदा किए बगैर नहीं रहे। वह अपने आर्टिकल के शुरुआत में लिखते हैं कि—

“गालिवन् इस वक्त उनके (याने हिंदुओं के) इस जोश के उठने का सबब यह है कि इस सूबः के हिज्र आनर लेफ्टेंट गवर्नर बहादुर उस ज़मानः में, जब कि सूबः बिहार में कैथी हर्फ और बिहारी ज़बान बएवज उर्दू ज़बान और फारसी खत के जारी हुई थी, कलक्टर व मैजिस्ट्रेट और मुआवन उस तजवीज़ के थे। पस इन सूबों में भी हिंदी व नागरी हर्फ जारी होने में तामिल न फरमायेंगे और शायद यह ग़लत खयाल भी उस पुराने मुर्दह मजमून को उठाने का बाअस हुआ।

हो कि इन दिनों में गवर्नमेंट की नज़् इनायत मुसलमानों की निस्वत कम है और वह उनको नागुकरा समझती है।” इसके बाद उन्होंने मेमोरियल के ख़िलाफ़ उर्दू ज़बान और फ़ारसी ख़त की तरज़ीह पर दलीलें पेश की हैं।” (हयात जावेद, वही, पृ० १४३)

हिंदुओं के कौमी ताम्बुब को साफ़ दिखाने के लिये मौलाना हाली ने उस प्रसिद्ध फ़ारसीसी पंडित गार्सीद तासी का प्रमाण दिया है जो धार्मिक द्वेष का पुतला था और हिंदी-उर्दू-बिबाद छिड़ जाने से सर सैयद का पक्का चेला बन गया था। उसका कहना है—

“हिंदू अपने ताम्बुब की वजह से हर एक ऐसे अम्र के मज़ाहिम होते हैं जो उनको मुसलमानों की हुकूमत का ज़मानः याद दिलाए”। पर साथ ही आपका फ़रमाना यह भी है कि—

“मुझे उर्दू ज़बान और मुसलमानों के साथ जो लगाव है वह कोई छिपी हुई बात नहीं है। मैं समझता हूँ कि मुसलमान लोग बावजूद कुरआन को किताब इलाही मानने के इंजील मुक़दस की इलहामी तालीम से इंकार नहीं करते, हालाँ कि हिंदू लोग बुतपरस्त होने के बावज़ु इंजील की तालीम को कभी तसलीम नहीं कर सकते।” (उर्दू, अपरैल सन १८७० ई० पृ० २८०, १८७० ई० का ब्याख़्यान)

कदाचित् यही कारण है कि—

“उस वक्त् का सारा रुजद्दान मुसलमानों और अँगरेजों के

दर्भियान इत्तहाद पैदा करना था। यही बात है जिसकी तरफ़ सर सैयद अरस-ए-दराज़ से मुसलमानों को लाना चाहते थे। जिन्दगी भर वह मुसलमानों को खुदा का यह क़ौल याद दिलाते रहे कि वह अह्म किताब को अपने बेहतरों दोस्त पायेंगे। (रोशन मुस्तक़बल, वही, पृ० २९० पर अवतरित)

फिर मी गार्सी-द तासी इतना स्वीकार करते हैं कि—

“अलावह इसके अभी तक हिंदुस्तान के मुसलमानों में अक्लपरस्ती ने घर नहीं किया है। वह अब भी अपने मज़हब में वैसे ही पुर जोश हैं और अगरचः हिन्दू मज़हब का रंग उनमें आ गया है तो भी वह रोज़ाना हिंदुओं को मुसलमान बनाते रहते हैं।” (खुतबात गार्सी-द-तासी, वही, पृष्ठ १२२)

खैर, ‘मज़हबी जोश’ और ‘हिंदू-द्वेष’ की बातें यहीं छोड़ अब थोड़ा यह देखिए कि क्या सचमुच हिंदू ‘मुसलमानों की निशानी’ मिटाना चाहते थे? निवेदन है हरगिज़ नहीं। नागरी लिपि का प्रचार केवल ‘सत्य’ और ‘न्याय’ की दृष्टि से ही किया जा रहा था। यकीन न हो तो ‘नागरी’ के परम प्रचारक पंडित गौरीदत्त मेरठी का ‘सर्पाकी नाटक’ देख लीजिए। उसमें साफ़ साफ़ अर्ज किया गया है कि—

“इसलिये मैं अपना कर्ज जानकर अपनी न्यायकारी अंग्रेज़ी गवर्नमेंट पर यह सच्चा हाल प्रकाश किए देता हूँ और उम्मीद रखता हूँ कि हमारी रहीम गवर्नमेंट इस देश के व्यापा-

रियों पर रहम खाकर सर्राफी हरफ छुड़ा कर इनके बही खाते नागरी हरफों में करा देगी। नागरी में जैसा लिखा जाता है ठीक ठीक वैसा ही पढ़ा जाता है। दगा फरेब नहीं होता। जाल नहीं बन सकता।” (सर्राफी नाटक, गोरखपुर प्रेस, सन् १८९० ई०, पृ० १८)

रही संबंध की बात। सो आज भी ठेठ मुसलमानों की भाषा हिंदी है और आज भी उनमें नागरी का प्रचार है। हाँ, मजहब के नाम पर बहुत दिनों से उन्हें गुमराह अवश्य किया जा रहा है और हर तरह से उन्हें अहिंदी होने पर मजबूर किया जा रहा है। हिंदी भी उसी तरह उनकी मातृभाषा है जिस तरह गुजरात और बंगाल के मुसलमानों की गुजराती और बंगला। यदि गुजरात और बंगाल में भी फारसी की जगह उसी तरह उर्दू चालू कर दी जाती जिस तरह ठेठ हिंदुस्तान में ‘हिंदुस्तानी’ की आड़ में कर दी गई, तो वहाँ भी आज भाषा का एक अजीब अखाड़ा होता। पर परमात्मा की असीम कृपा अथवा उनके सपूतों की सावधानी से वहाँ कुछ ऐसा विधान न बन सका और फलतः वहाँ की भाषा तथा वहाँ की लिपि में विद्या का प्रचार भी सहसा हो गया। परंतु हवा का रुख बदला नहीं, क्योंकि वहाँ भी उस लिपि का प्रचार किया जाने लगा जो देखने में तो अच्छी पर छापे और ज्ञान के लिये ठीक तिहिनी है। देखते ही चट उन्हें हजम कर जाती है और फिर कभी उनका पता तक नहीं चलने देती और

सदासुहागिन बिनबूझ पहेली बनी रह जाती है। खुदा रहम कर अपने बंदों को नजात दे और उन्हें उस खत का पावंद बनाए जिसमें कोई खास खता न हो; बल्कि जो आमफहम और मुल्की ईजाद हो। इत्तहाद और सचाई को अपना धर्म समझता हो। व्यापक और उदार हो। 'उर्दू' की भाँति जिसके सभी वर्ण बिलग न हों बल्कि हिंदी की भाँति एक में घुलेमिले संनद्ध हों। एकता के भाव तथा अर्थ को समझते हों। कामरूप न हों, पर ऐक्य के लिये कुछ परिवर्तनप्रिय अवश्य हों।

अच्छा तो हुआ यह कि सर सैयद अहमद खाँ के निधन के उपरांत महामना मालवीय जी की बातों की कुछ सुनवाई हो गई और प्रांतीय सरकार ने कचहरियों में नागरी को भी स्थान दे दिया। भाषा के विषय में ध्यान देने की बात यह है कि अपनी प्रार्थना में न तो मालवीय जी ने उसके लिये आग्रह ही किया था और न सरकार ने उसपर ध्यान ही दिया था। सच पूछिए तो इसकी

❀ 'उर्दू' की व्यापकता और साधुता को सिद्ध करने के लिये तरह तरह के तर्क उपस्थित किए जा रहे हैं। उन्हीं तर्कों में से एक तर्क डाक्टर अब्दुलहक का यह भी है कि 'उर्दू' की आम मक्लूबूलियत का एक सबब यह भी है कि उसके सभी वर्ण अलग अलग होते हैं। जिससे उसके लिखने पढ़ने में सुभीता होती है। पर 'हिंदी' में यह बात नहीं है। न हो। पर उसी तर्क के आधार पर उसमें एकता तो है? 'मैं' कहीं और 'तु' कहीं और की बात तो नहीं है?

आवश्यकता भी न थी। सरकार ने सन् १८३७ ई० के विधान में स्पष्ट कर दिया था कि वह सचमुच देशभाषा का प्रचार चाहती है और बराबर बार बार यह घोषणा करती रही है कि सरकारी कामकाज की भाषा सच्ची देशभाषा हो। पर किया क्या जाय ? देश में देश, दीन और बुद्धि के दुश्मन भी तो कम नहीं हैं जो पेट और इस्तयाज के आगे और किसी बात की चिंता ही नहीं करते और सरकार को भोलीभाली जनता की ओट में बराबर धता बताते रहते हैं। आखिर कचहरी की इस विषैली जाली भाषा का रहस्य क्या ? क्यों वह एक अजनबी भाषा के रूप में चली जा रही है और स्वर्गीय सर सैयद अहमद खाँ जैसे 'नेचरी' पेशवा और आजकल के मजहबी खलीफा मौलाना हसन निजामी को जबान तक से मेल नहीं खाती ? क्या उक्त सज्जनों की जबान गवारी, बनावटो या भोंडी या कुछ और है, जो उसका प्रचार कचहरियों में नहीं होने दिया जाता और उनमें एक मनमानी, पिशाचिनी भाषा का व्यवहार किया जाता है जो न तो फारसी है न अरबी, न तो मुसलमानी है न हिंदी। वह उर्दू भी तो नहीं है ! यदि उसे उर्दू मान लें तो उक्त सज्जनों की जबान क्या है ? खैर भाषा के प्रश्न को अभी यहीं छोड़िए और कुछ आगे बढ़ कर यह देखिए कि सरकार की उस न्यायनिष्ठा, उस सत्यप्रेम और उस लोकमंगल की कामना का परिणाम क्या हुआ जो कचहरी में नागरी के रूप में प्रतिफलित हुई।

सरकार की वह सोधी सादी विज्ञप्ति थी—

- (1) All persons may present their petitions or complaints either in the Nagari or in the Persian Character, as they shall desire.
- (2) All summonses, proclamations, and the like in Vernacular, issuing to the public from the Courts or from Revenue officials, shall be in the Persian and the Nagari Characters, and the portions in the latter shall invariably be filled up as well as that in the former.
- (3) No person shall be appointed except in a purely English office, to any ministerial appointment henceforward, unless he can read and write both the Nagari and the Persian Characters fluently (No. 585. III. 343 c. 68, dated 18 th April 1900)

इस विज्ञप्ति में कहीं कोई भी बात ऐसी नहीं है जो अजोब और अनोखी हो, बल्कि हकीकत और सत्य तो यह है कि यह वही पुरानी बात है जो मुसलिम शासन में तो बराबर थी ही, कंपनी सरकार के आरंभ में भी बराबर बनी थी। हाँ, प्रमाद और नीतिवश बाद में कुछ काल के लिये निकाल अवश्य दी गई थी। फिर भी इसके लिये दिल तोड़ कर

लीजिए कि वह स्वतः आने आरको क्या बताती है। किस बात का उसे पक्का नाज है। उसकी 'फरियाद' है—

खुदाया पड़ी कैसी उस्ताद है,
बड़े लाट साहब से फरियाद है।

मुझे अब किसी का सहारा नहीं,
यह बेवक्त मरना गवारा नहीं।

मेरा हाल बहरें खुदा देखिए,
जरा मेरा नश्वोनुमा देखिए।

मैं शाहों की गोदों की पाली हुई,
मेरी हाथ यों पायमाली हुई।

निकाले जबाँ फिरती हूँ बाबलो,
खुदाया मैं दिल्ली की थी लाड़ली।

अदाएँ बला की सितम का जमान,
वह सजधज कयामत वह आफत की चाल।

मेरे इश्क का लोग भरते थे दम,
नहीं भूठ कहती खुदा की कसम।

यह आफत लड़कपन में आने को थी,
जवानी अभी सिर उठाने को थी।

निकाले थे कुछ कुछ अभी हाथ पाँव,
“चमक फैलती जाती है गाँव गाँव;

❀ साफ है कि अभी तक उर्दू लोकभाषा के रूप में प्रतिष्ठित न हो सकी थी और न अभी उसका यह दावा ही था।

कि गैबी तमाचे से मुँह फिर गया,
 महे चारदह अन्न में घिर गया ।
 मेरी गुप्तगू और हिंदी के हर्फ,
 वह शोलाफिसानी यह दरयाय बर्फ ।
 इस अंदाज़ पे दिल हुआ लोट पोट,
 दुलाई में अतलस की गाढ़े की गोट ।
 खुदाया न क्यों मुझको मौत आ गई,
 कहाँ से मेरे सर यह सौत आ गई ।
 न भूमर न छपका न बाले रहे,
 न गेसू मेरे काले काले रहे;
 न अतलस का पाजामा कलियों भरा,
 दुपट्टा गुलाबी मेरा क्या हुआ ?
 न सुरमा न बिस्सी न मेहदी का रंग,
 अब तेरी कुदरत अब तेरे ढंग ।
 न बेले का बद्धी न अब हार है,
 न जुगुनू गले में तरहदार है ।

फिर भला आज हम यह कैसे मान सकते हैं कि वही हमारी
 'मादरी' या मुल्की ज़बान है और हिंदी कुछ नहीं, सिर्फ एक
 बनावटी, मरी या 'राक्षसों' और जिन्नात की ज़बान ।' हम
 तो आज भी उसे उसी तरह मुल्की या मादरी ज़बान
 समझ रहे हैं जिस तरह कल तक सच्चे मुसलमान भी
 समझते थे ।

न भाओं की भनभन कड़ों का न शोर,
 दुपट्टे की खसकन न महरम का जोर ।
 वह बाँकी अदाएँ वह तिरछी चलन,
 फिफरूँ हुआ हो गया सब हरन ।
 बस अब क्या रहा, क्या रहा, क्या रहा,
 फकत एक दम आता जाता रहा ।
 यह सौदा बहुत हमको महँगा दिया,
 कि खिलअत में हाकिम ने लहँगा दिया ।
 अँगोछे की अब तुम फबन देखना,
 खुली धोतियों का चलन देखना ।
 वह सेंदूर ❀ बालों में कैसी जुटी,
 किसी पार्क में या कि सुर्खी कुटी ॥”

(१७ मई सन् १९०० ई०, ‘अवध पंच’ से कविता कौमुदी,
 द्वितीय भाग में श्री बालमुकुन्द गुप्त के उत्तर के साथ अवतरित)
 अब तो शायद यह याद दिलाने की जरूरत नहीं रही कि

❀ देखा आपने ? बी उर्दू को यह सुहाग कैसा दिखाई दे
 रहा है ? ‘अँगोछे’ और ‘धोती’ से उन्हें ऐसी नफरत क्यों है ?
 क्या देश के किसानों से उन्हें कुछ भी प्रेम है ? हैं उनके साथ
 सती होने के लिये तैयार ? अथवा अपना पाजामा ही दुरुस्त
 कर रही हैं और अपनी ‘तिरछी चलन’ को ही सब कुछ समझ
 रही हैं ? सच है, सुहागिन को ‘सौत’ कहना ‘बी उर्दू’ का ही
 काम है ।

जिसे आज हमारे देश के सर तेज बहादुर सप्रू जैसे मुल्हपरस्त वकील 'मुल्की' और 'मुश्तरकः' ज़बान होने की सनद देते हैं वह खुद अपने आपको सन् १९०० ई० तक ऐसा कुछ भी नहीं समझती थी, और उसके सरपरस्त इस्तियाजी भी उसे सिर्फ 'हमारी ज़बान' कहा करते थे। किंतु कचहरियों में नागरी के आ जाने का परिणाम यह हुआ कि हवा का रुख पलटा। नवाब मुहसेन-उल्-मुल्क सैयद मेहदी ने देख लिया कि सर एंटोनी मेकडानल्ड कोई भरे या तपाक में आ जाने वाला जीव नहीं है। वह बनरघुड़की का जवाब सिंह की दहाड़ से दे सकता है। निदान विवश हो कर उन्हें उसके सामने सिर झुकाना पड़ा और नागरी की धाक से सहम कर रह जाना पड़ा। नागरी भी कचहरियों में 'सौत' की तरह आने लगी।

लार्ड कर्जन की कृपा से वह दिन भी आ गया कि बग-भंग हो गया और मुसलमानों को यह सच्चा पाठ पढ़ाया गया कि—

“तक़सीम बंगालः से उनका मक़सद सिर्फ़ यह न था कि बंगाल की गवर्नमेंट के इंतजामी बार को हल्का किया जाय बल्कि एक इसलामी सूबः बनाना था जिसमें मुसलमानों का ग़लबः हो” (रोशन मुस्तक़बल, वही, पृ० ३४५)

धीरे धीरे लार्ड कर्जन की नीति और दीक्षा का परिणाम यह हुआ कि ढाका के नवाब सलीम अल्लाह खाँ की कोशिश से उस मुसलिम संस्था की नींव पड़ी, जो आज 'मुसलिम लीग' के प्रिय नाम से प्रसिद्ध है और जिसके सर्वेसर्वा श्री मुहम्मद अली

जिन्ना हो रहे हैं। प्रसंगवश यहाँ इतना और नोट कर लेना चाहिए कि उक्त संस्था के प्रथम सभापति थे सर सैयद के एक दूसरे खलीफा नवाब वकार-उल् मुल्क, और वह सभा हुई थी ३० दिसंबर सन् १९०६ ई० को उसी ढाका में जो लार्ड कर्जन के उक्त मुसलिम प्रांत का केंद्र था।

लार्ड कर्जन को मुसलमानों की इतनी चिंता क्यों हुई ? क्योंकि उन्होंने ईरान और हिंदुस्तान को एक करने का प्रयत्न किया और ईरान के अमीरों के लड़कों को अलीगढ़ कालेज में भर्ती कराने की भरपूर कोशिश की ? कारण प्रत्यक्ष है। अब हिंदू भी सोते शेर की तरह जाग पड़े थे और दुम हिलाने की जगह कुछ कुछ दहाड़ने भी लगे थे। निदान उदार सरकार को जरूरत पड़ी कि मुसलिम-हित की आड़ में अपनी रक्षा करे और शेर को शेर बबर से लड़ा दे।

उपर श्री गोखले से नीतिज्ञ इस बात की चिंता में थे कि व्यर्थ का मनमुटाव आपस में न बढ़े और सभी भारतवासी भारतीयता के नाते परस्पर प्रेम और मेलजोल के साथ आगे बढ़ें और ब्रिटिश पंचानन का सामना करें। श्री गोखले का यह कहना था कि सर सैयद के प्रथम खलीफा नवाब मुहसेन उल्-मुल्क को वह मौका हाथ लगा जो कभी आज तक उनके वारिसों के वारें न गया। चट उन्होंने घोषणा कर दी कि —

“बमजबूरी मुझे यह कहना पड़ता है कि इस सूबः मुत्तहिदह में जिसके सदर मुकाम में इस वक्त हम जमा हैं और इत्तहाद

के मसल पर गुप्तगू करते हैं, उर्दू नागरी का अहम मसलः पेश है और मुहइआन इत्ताहाद सालहासाल से सख्त कोशिश कर रहे हैं कि उर्दू के बजाय नागरी कायम हो। हालाँ कि यह ज़बान न अरब की है न अजम की, न मुसलमान इसे अरब से लाए हैं न ईरान से; यह तो एक मुश्तरकः * ज़बान है जो हिंदुस्तान में पैदा हुई। हिंदू और मुसलमान दोनों उसके पैदा करने वाले हैं। कई सौ बरस से दोनों में उसका रवाज है। हिंदू भी इस सूबः के वही ज़बान बोलते हैं और मुसलमान भी। हिंदू भी उसी ख़त में और उन्हीं हक़ों में तहरीर करने के उसी तरह आदी हैं जिस तरह मुसलमान। उसके कायम रहने से हिंदुओं का कुछ हर्ज नहीं है और उसके न कायम रहने में मुसलमानों का सख्त नुक़सान है। मगर मुसलसल कोशिश उसके मादूम करने के लिये हो रही है और जब तक वह मादूम

* यह है मुश्तरकः ज़बान की दुहाई जो तभी से बराबर लगातार इसी रूप और इन्हीं शब्दों में दोहराई जा रही है और हिंदुस्तान की अशिक्षित तथा अर्द्धशिक्षित जनता को इसी के आधार पर गुमराह किया जा रहा है। यह फरमाना बजा है कि यह ज़बान न अरब की है न अजम की लेकिन यह कहना ठीक नहीं कि यह यहाँ की मुल्की या मुश्तरकः ज़बान है। सही यह है कि यह एक 'इम्तयाज़ी और बनावटी ज़बान' है जिसकी प्रकृति तो हिंदी है पर प्रवृत्ति सबथा अहिंदी याने अरबी और अजमी।

न हो जायगी, गालिबन् हमारे दोस्तों का कोशिश में कमी न होगी। अब फरमाइए कि अगर इत्तहाद के वाज करने वाले यह चाहते हैं कि हम उनकी कोशिश का मुक्ताबिलः न करें और अपनी ज़बान के कायम रखने के लिये भी उनके हमलों को दफा न करें और अपनी ज़बान के कायम रखने के लिये भी उनके हमलों को दफा न करें और अगर ऐसा करें तो हम इत्तहाद के दुश्मन और मुस्त्रालिफ़त के पैदा करने वाले समझे जायें तो इस में क्रसूर हमारा है या हमारे दोस्तों का। ऐसा इत्तहाद तो वही शरूफ़ चाहेगा जो अपनी क्रौमियत की मख़सूस अलामत के तर्क करने की परवाह न करे; बल्कि यह कहना चाहिए कि अपनी क्रौम को दूसरी क्रौम में जज़ब हो जाने को इत्तहाद समझे। हम तो इसको इत्तहाद नहीं समझते।” (तज़किरह मुहसेन पृ० १८३-४)

अच्छा, यही सही। ‘इत्तहाद’ को इसी कसौटी पर ‘उर्दू’ को कसिए और देखिए कि उसमें कहाँ तक कोई और ‘मख़सूस अलामत’ पाई जाती है। प्रसंग लिपि का है, अतएव पहले उसी पर विचार करना चाहिए। क्या उक्त नवाब साहब और उनके इमदद यह दावा पेश कर सकते हैं कि उर्दू ख़त जो आज भी पारसी या अरबी ख़त कहा जाता है, अरब या अज़म से मुसलमान अपने साथ नहीं लाए, और क्या आज भी उसकी दुहाई इसीलिये नहीं दी जा रही है कि वह मुसलमानों की मजहबी लिपि है और तमाम मुसलिम दुनिया में प्रचलित है ?

क्या इसी मजहबी इम्तयाज की रक्षा और प्रचार के लिये ही आज हैदराबाद में लाखों रुपए पानी की तरह इसलिये नहीं बहाए जा रहे हैं कि किसी तरह उसके छापने में वह सहूलियत और वह सुभीता हो जाय जो उसकी 'सौत' नागरी में है ? यदि हाँ, तो फिर नवाब साहब का यह प्रलाप कैसा ? उनके दोस्तों का दोष क्या ? यदि नहीं, तो हक क्या ? सचाई और ईमानदारी की बात कैसी ? असलियत का गोना और दोस्तों का मरसिया क्यों ?

हो सकता है ज़बान के जोम और इम्तयाज के जोश में नवाब साहब को खत का खयाल न रहा हो और बुढ़ापे के कारण खत के सवाल को ज़बान की मसला बना लिया हो । इसलिये अब ज़बान पर ही गौर करना चाहिए । भाग्यवश हमारे सामने उर्दू के प्राण मौलाना डाक्टर अब्दुल हक की नजीर पेश हैं । जरा गौर से देखिए । उसमें कुछ पते की बात कही गई है । उनका कहना है—

“उस वक्त के किसी हिंदू मुसन्निक की किताब को उठा कर देखिए । वही तर्ज तहरीर है और वही असलूब बयान है । इब्तदा में बिस्मिल्लाह लिखता है । हम्द व नात व मन्क़बत से शुरू करता है । शरई इस्तिलाहात तो क्या हदीस व नस क़ुरान तक बेतकल्लुफ़ लिख जाता है । इन किताबों के मुतालः से किसी तरह मालूम नहीं हो सकता कि यह किसी मुसलमान की लिखी हुई नहीं ।” (उर्दू, जनवरी सन् १९३३ ई० पृ० १४)

का कोई न कोई फर्द जरूर होगा। कितनी ही मुघयरत क्यों न हो, आखिर एक खून है, क्या तअज्जुब है कि इसी रिश्तः से पहचान कर इस अड़े वक्त में काम आ जाये। आखिरकार वहाँ ताजदार दकन का बड़ा घरानः मिल गया। शाही शान वो शौकत और कर वो फर् से इस्तक़्बाल हुआ। करनों की बिछुड़ी गते मिलीं। हाथों हाथ लिया और बड़ी आव-भगत से शाही मेहमान किया। इसने भी अपनी सारी दर्दभरी दास्तान कह सुनाई और जो जो तकलीफ़ अपनों और परायों से उसको पहुँची थी वह भी सब बयान कर दी। उसके जदीद मेज़बान ने उसकी बड़ी तसल्ली की। उसके कयाम के लिये जामः उस-मनियः नामी नया महल लाखों रुपया सफ़ करक़ तैयार कराया और ख़िदमत के लिये तमाम हिंदुस्तान के बेहतरीन मुअल्लिम और उस्तादान फ़न बड़े बड़े मुशाहिरों पर मुकर्र किए गए। क़िलः मुअल्लिमा की तहज़ीब पर निज़ामशाही तरतीब ने सोने पर सुहागे का काम दिया। और आख़िर चंद ही साल में उर्दू ने इस क्रूर हर दिल अजीजी हासिल कर ली कि परदेस का भी देस ही बना लिया। वह लोग जो टामिज़, टेलगू, मलाया-लम, कनारी और न मालूम क्या क्या बोलियाँ बोला करते थे, सब अपनी अपनी बोलियाँ भूल गए और उर्दू के ही गिरबीदह हो गए, और सबने मिलकर उसको अपनी मदरी ज़बान तसलीम कर लिया और इस तरह इस मुहानिर को दकनी अंसार ने हर तरह की मदद दी। वहाँ तमान दक्करी काररवा-

इयाँ, गुफ्तगू, तहरीर वो तक्रीर, खत वो किताबत, लेनदेन, गर्ज सब ही कुछ उर्दू में होने लगा। तसानीफ, तालीफात, तराजिम का बेशब्रहा जखीरह थोड़े ही अरसः में जमा हो गया। कल कोई चीज यूरोप से 'अपटू डेट' आई और उसने उसको शेरवानी पहनाई।”

(अलीगढ़ मैगज़ीन, तातोलात नंबर, सन् १९२७ ई० पृ० १०६)

इस 'आम-भगत' और 'शेरवानी पहनाने' का नतीजा यह हुआ कि -

“जा उर्दू क़ुनुवशाहियों के बाद से डेढ़ सदी तक क़रीब क़रीब एक हाल पर बाक़ी थी रुवा सदी के अंदर ऐसी मुक़-लिब हो गई कि अगर पचास साल क़ल का कोई हैदराबादी शाह या मुमन्निक़ जिदह हो जाय तो वह अपने जानशीनों की और अपने ज़वान में कई गुनः फ़र्क़ महसूस करे” (अहद उसमानी में उर्दू को तरक्का, आजम इस्टीम प्रेस, हैदराबाद दकन, सन् १९३४ ई० पृ० १४८-९)

डाक्टर बादिरी के उक्त निष्कर्ष से स्पष्ट है कि वहाँ की प्राचीन भाषा जान बूझ कर कुछ ऐसी बनाई जा रही है जो प्रतिदिन परपरा से निकूल पड़ती जा रही है। यहाँ हमें भाषा की इस अहिंदी या विलायती प्रवृत्ति पर विचार करने का अवसर नहीं है। हैदराबाद के विषय में अभी मोन रहन की ही ज़रूरत है। उसका जा क़हा क़हा उल्लेख भर कर दिया गया है

वह केवल यह दिखाने के लिये कि उर्दू आज भी किस तरह शाही और के आधार पर 'मुल्की' या 'मुश्तरक' क्या 'मादरी जवान' तक बनाई जा रही है और देश की सच्ची भाषाएँ दिन दहाड़े बेमौत मारी जा रही हैं। दुनिया में शायद हैदराबाद ही वह राज्य है जहाँ देश की सच्ची देशभाषाओं में शिक्षा देना अपराध गिना जाता है और प्रजा की जवान को मारने की पूरी कोशिश की जाती है। जो लोग हैदराबाद की सरकारी और दफ्तरी जवान की कहानी से वाकिफ हैं उन्हें इस बात का पूरा पूरा पता है कि फारसी के साथ ही साथ मराठी और तिलंगी भी वहाँ के दफ्तरों में बराबर चलती रहीं। हाँ, फारसी की जगह उर्दू के बस जाने का नतीजा यह हुआ कि मराठी, तिलंगी आदि देशभाषाएँ दफ्तर से कान पकड़ बाहर ही नहीं की गईं बल्कि भव घर के भीतर भी उनका पढ़ना-पढ़ाना अपराध हो गया और वह दिन दूर न रहा जब उनका नाम लेना भी हराम समझा जायगा। कारण प्रत्यक्ष है। उर्दू अपने आप बढ़ नहीं सकती। उसके पलने के लिये देशभाषाओं का शिकार आवश्यक है। यह शिकार सदा से शासकों के हाथ होता आ रहा है और फलतः तब तक होता रहेगा जब तक शासक इस पुण्यदेश के पक्के पालक नहीं बन जाते और इस भूमि के गौरव को अपना गौरव नहीं समझते।

नवाब साहब के जिस इत्तहाद को लेकर हम इतना बढ़ गए हैं उसकी दृष्टि से हैदराबादी उर्दू पर ध्यान देने से पता

चक्रता है कि वहाँ से भी हिंदू-इस्मियाज अथवा हिंदुत्व को बिदाई मिल रही है और वहाँ भी हिंदुओं की कोई खास खसूसियत नजर नहीं आती। जनाब डाक्टर कादिरा साहब ने इस बात की भरपूर कोशिश की है कि कहीं हिंदुओं या किसी अन्य संवदाय या राष्ट्र के प्राणी को इस बात का पता न हो जाय कि उर्दू एक इस्मियाजी या तबलीगी जवान है। फिर भी सच्ची बात उनके मुँह से निकल ही पड़ती है कि 'बाज दफा तो बमुश्किल इस्मियाज किया जा सकता है' कि लेखक हिंदू है या मुसलमान। क्यों नहीं? अखिर उर्दू है भी तो 'मुल्की' और 'मादरी' जवान। जब मुल्क में हिंदू ही नहीं रहे तो उनकी 'इस्मियाज' या खसूसियत ही क्या? उर्दू के अदब में उनकी अलग सत्ता ही क्या?

पाठकों से अब यह कइने की आवश्यकता न रही कि क्यों उक्त नवाब साहब की दृष्टि में उर्दू के 'क्रायम रहने में हिंदुओं का कुछ हर्ज नहीं है और उसके न क्रायम रहने में मुसलमानों का सख्त नुकसान है।' पर विचारणीय बात यह नहीं है कि किससे हिंदुओं का हित और किससे मुसलमानों का अहित हो रहा है। प्रस्तुत विषय तो यह है कि किससे जनता का लाभ हो रहा है। किस भाषा तथा किस लिपि से जनता का सहज संबंध है और किस भाषा तथा किस लिपि में ज्ञान-प्रसार की सहज क्षमता है। इस राष्ट्र तथा लोकहित के सीधे सादे प्रश्न को मजहबी बना कर अपना पेट भरना किसी भी मजहब को

बदनाम करना है। मजहब दुनिया की एक बहुत पुरानी चीज है। उसको लेकर एक नया फवाद तभी तक खड़ा किया जा सकता है जब तक उसका सच्चा स्वरूप जनता के सामने अच्छी तरह नहीं आ जाता और वह उसे अपने ज्ञान-नेत्रों से भली भाँति नहीं देख लेती। निदान उसकी मूढ़ता और मजहबी जोश से फायदा उठाने के लिये अनिवार्य है कि उसको 'भाषा' और 'लिपि' की ऐसी भूल भुलैया में गुमराह कर सके जिसका कुछ पता ही न हो। अनएव यदि यहाँ सच्ची लोकभाषा और सच्ची लोकलिपि का विरोध हो रहा है तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। आश्चर्य तो यह देख कर होता है कि हमें रात को रात और दिन को दिन कहने का भी साहस न रहा और 'संप्रदाय' के लांछन अथवा पाषंड के दानव से इतना भयभीत हो उठे कि सत्याग्रह तो दूर रहा, सत्य का नाम लेना भी छोड़ दिया। अच्छा, यही सही। पर दुःख तो यह देख कर होना है कि हम से चुप भी नहीं रहा जाता और हम सत्यनिष्ठ होने की सज्जद बटोरने के लिये पक्के सत्य-द्रोही बन जाते हैं। रात को दिन और दिन को रात बता कर पूज्य बनना चाहते हैं। फिर रोते यह हैं कि राष्ट्र रसातल को जा रहा है। भई, रोने से काम न चलेगा। राष्ट्र के मंगल के लिये रोग का निदान करना पड़ेगा और बकौल नवाब मुहसेन-उल-मुल्क साहब—

“क्या आप समझ सकते हैं कि किसी के जिगर में फोड़ा हो और वह अंदर ही अंदर बढ़ता और फैलता जाता हो, पीब

पड़ रही हो, उसे कोई रेशमी और खुशनुमा कपड़ा रख देने से अच्छा कर सकता और उसका दर्द दूर कर सकता है ? उसके लिये जरूरत इस बात की, है कि फोड़ा चीरा जाय, उसकी आलायिश निकाली जाय और फिर उस पर मरहम रखा जाय ।
(तजकिरह मुहसेन, वही० पृ० १८४)

अफसोस ! कि आज हममें से लाखों उस घातक फोड़े पर प्रमादवश, व्यामोह के कारण उमी 'रेशमी और खुशनुमा कपड़े' वो रख रहे हैं और मोचते यह हैं कि उमी से वह चंगा हो जायगा । आइए, हम आप इस प्रलोभन से बच कर, हृदय को कुछ कड़ा कर, निहायत हमदर्दी पर दिलेरी के साथ उस सदियों से जमे घातक फोड़े को चीरें और इधर उधर से अच्छी तरह दवा दुरो कर उसके सारे मवाद को एक दम निकाल फेंकें और फिर मुहब्बत के मरहम से उस घाव को मजे में खूब भर दें और जरा सा भी कहीं चोर न रह जाने दें । याद रहे, यदि हम भूठे स्नेह और हृदय की दुर्बल उदारता के कारण यह कठोर पर अति अनिवार्य कार्य न कर सके और व्यर्थ के दिवाऊ प्रेम के शिकार हो गए तो हमारा नाश निश्चित है । हम कभी स्वप्न में भी अच्छी तरह फल फूल नहीं सकते । मन-बहलाव के लिये चाहे कुछ दमक लें पर अंत में दिवालिया ही नजर आएँगे । फिर विवश हो हमको वही करना पड़ेगा जिसके करने से आज हम इस तरह जी चुरा रहे हैं और कायरतावश धर्म को द्वेष समझते हैं । अरे उस धर्म को द्वेष

समझ कर ठुकरा रहे हैं जिसमें राष्ट्र का सच्चा अभ्युदय और देश का कल्याण छिपा है !

प्रत्यक्ष है कि नीतिवश अथवा प्रजा के हित की कामना से अँगरेजी सरकार धीरे धीरे पका कर उस घातक फोड़े को फोड़ रही थी और इस बात की बराबर चिन्ता रखती थी कि कहीं उसके बिस्फोट से उसका विनाश न हो जाय । पर हमारे दोस्तों पर कुछ ऐसी सनक सवार थी कि वे उस फोड़े को अपना प्राण समझते थे और कहीं से जरा भी उस पर आँच आने देना नहीं चाहते थे । निदान उन्होंने सर एंटोनी मैकडानल्ड के उपचार का भी विरोध किया । सर एंटोनी सामान्य जीव न थे जो उनकी भभक में आ जाते और अपना नश्वर न चलाते । चीरने को तो उन्होंने उक्त फोड़ा चीर दिया पर, नीतिवश उसमें मवाद रह जाने दिया और बनावटी उदारता दिखाने के लिये उसमें गहरी बत्ती भी न दी । फल यह हुआ कि वह और भी घातक सिद्ध हुआ । विष से अच्छी तरह भर गया ।

अब मुसलमानों को यह विश्वास हो गया कि किताबी होने के नाते वे अँगरेजों के समकक्ष नहीं हो सकते । अपनी रक्षा के लिये हमें कुछ और उपाय करना चाहिए । भाम्यवश काँग्रेसी मंडल में एकता की तान छिड़ चुकी थी और उधर किताबियों के पवित्र हाथों से पाक स्थानों तथा मुसलिम देशों पर आक्रमण हो रहे थे । निदान मुसलिम लीग के सिकरेटरी 'सैयद वजीर हसन सहाब ने इस सम्मूह की एक गरती बिट्टी

जारी की कि लीग के मक़ासिद में 'हिंदुओं से हुस्न ताल्लुकात' और 'सेल्फ गवर्नमेंट' के अलकाज का एजाफ़: किया जाय ।' (रोशन मुस्तक़बल, वही, पृ० ३७२)

सन् १९१२ की इस लोभी हरकत में 'ख़िलाफ़त' आंदोलन ने जो योग दिया अभी वह कल भी टटकी चीज है। कितनी हिंदू ललनाओं के हाथ आज भी सोने की चूड़ियों से खाली हैं और उनके दान का गुस्सगान सारा सच्चा मुसलिम हृदय कर रहा है। पर इस्तियाज़ी लोगों को यह एकता खली। उधर स्वतंत्र तुर्कों ने कोरा जवाब दे दिया और अपने राष्ट्र के उदय तथा कल्याण के लिये पहले 'खलीफ़ा' को साफ़ किया और फिर मजहबी हुरूफ़ (?) याने अरबी को। अरबी अक्षरों की ज्ञान-शत्रुता को देख कर और अपने को यूरोप के अन्य उन्नत राष्ट्रों के समकक्ष बनाने के लिये 'लातनी' अक्षरों को अपना कर तुर्कों ने स्पष्ट कर दिया कि उनका लक्ष्य क्या है, किस प्रकार वे मजहब को लोक को पाबंदी या सनकपरस्ती नहीं, बल्कि उसे कल्याण और मंगल का द्योतक समझते हैं।

कांग्रेस के प्रभुत्व में आ जाने का परिणाम यह हुआ कि एक सच्ची राष्ट्रभाषा की आवश्यकता पड़ी। 'राष्ट्रभाषा की परंपरा' नामक निबंध में यह स्पष्ट करन की कुछ चेष्टा की गई है कि वास्तव में वह राष्ट्रभाषा हिंदी ही थी जो मुसलिम शासन में भी अपनी इस मर्यादा पर आरुढ़ रही। साथ ही इस निबंध में भी साफ़ किया कर दिया गया है कि आरंभ में कंपनी सरकार

ने भी इसी हिंदी भाषा और इसी नागरी लिपि को राष्ट्र या कम से कम ठेठ हिंदुस्तान की राष्ट्रभाषा तथा राष्ट्रलिपि माना, पर कांग्रेस के नेताओं ने व्यामोहवश स्पष्टरूप से नागरी भाषा तथा नागरी लिपि को राष्ट्रभाषा तथा राष्ट्रलिपि के रूप में स्वीकार न किया, बल्कि उसके साथ एक 'हिंदुस्तानी' का भ्रमकेतु लगा दिया ।

'हिंदुस्तानी' नामक लेख में (विशाल भारत, फरवरी सन् १९३९ ई०) हम देख चुके हैं कि 'हिंदुस्तानी' की 'भूल-भुलैया' में हमारे नेता किस तरह गुमराह होते जा रहे हैं और क्यों केवल नागरी को राष्ट्रलिपि नहीं मानते । बात यह है कि उनपर लीग का मजहबी हौवा इस कदर सवार है कि उनको किसी तरह चैन नहीं लेने देता और उन्हें वह फल चखने के लिये मजबूर करता है जिसका निषेध उनकी आत्मा की ओर से हो चुका है । पर करें क्या ? उनको इस बात का पता नहीं है कि —

“लीग का संग अन्वलीन शिमलः डेपूटेशन था और अब आईंदह जो कुछ उसका नज़ाम बनाया जाय, शिमल डेपूटेशन की रूह उसमें मौजूद रहेगी । लीग की बुनियाद को पहलो ईंट टेढ़ी रखी गई । उसपर जो इमारत बनाई जायगी टेढ़ी हो होगी ।” (रोशन मुस्तक़बज़ वही, पृ० ३९८ पर अवतरित)

साथ ही यह भी याद रहे कि —

“हुकूमत से तइजीब और ज़बान की हिक़ायत कराने का

मुतालिब: उस क़त्लील अँगरेजी पढ़ी हुई जमाअत की तरफ से उठाया गया है जो क़त्लम लिबास और तमद्दुन का मजहक: उड़ाया करती थी और जिसको निम्नत साबिक में यह अर्ज किया गया है कि अन्वल खुद उसने अपनी मुआसिरत और जवान को छोड़कर अहू यूएफ की मुआमिरत और जवान एख्तयार को। आई'दह जमान: में अगर अ'देश: है तो इसी जमाअत से है कि वह हिंदुओं के उरुज के जमान: में कहीं हिंदुआनी लिबास और जवान एख्तयार न कर ले। ताहम अगर हुकूमन ही से इन अमूर की हिफाजत क़ानी है तो वह जवान अरबी है जो मुसलमानों को मजहबी जवान है और जिसमें वह इ'दा करते हैं।" (रोशन मुस्तक़बल, वही, पृ० ५५१-२)

बेशक अरबी मुसलमानों की मजहबी जवान है और मजहब के नाते उसी को पैरवी होनी चाहिए। लेकिन यहाँ पैरवी को जा रही है 'इस्तयाजो' जवान उर्दू की। उस उर्दू का जिसकी टक़वाल सुदूर दक्षिण में कायम की गई है और जिसके पेशवा आज मौलाना डाक्टर अब्दुल हक हो रहे हैं। क्यों न हो, आखिर लीगो लोग तो अरबी पढ़ मुल्ला बनने से रहे, फिर अरबी के लिये जान क्यों दें? रही उर्दू की बात। उसकी हिमायत का रहस्य यह है कि उसके द्वारा जनता को उभारा जा सकता है। उसके आधार पर तरह तरह के फसाद बरपा किए जा सकते हैं। उसको 'मुल्की' और 'मादरी' जवान कहा जा

का प्रश्न हल करे और फिर जवान की ओर अपना कदम बढ़ाए। समझ में नहीं आता कि लिपि को दोहरी नोंति तो लोगों को नहीं खलती पर भाषा की दोहरी धारा दोस्तों को बेतरह बिचका क्यों देती है।

आखिर हिंदुस्तानी के लिये यह तूफान क्यों? बात यह है कि जिस परिस्थितियों के कारण कभी 'खुराशन' लोगों को एक नई जवान ईजाद करने की जरूरत महसूस हुई और 'इस्त-याज' के लिये फारसी का जगह उर्दू जारी कर दी गई उन्हीं परिस्थितियों के कारण आज 'उर्दू' की जगह किसी 'हिंदुस्तानी' की जरूरत पड़ रही है। कारण प्रत्यक्ष है। उस समय 'दरबार' की प्रतिष्ठा थी। राजभक्ति को ईशभक्ति का अंग समझा जाता था। इसलिये दरबारी जवान शाही जवान की जगह चट से चालू हो गई। पर आज जमाना है प्रजाक। अब प्रजाभक्ति को ही ईशभक्ति का साधन समझा जाता है। अतएव 'हिंदुस्तानी' प्रजा के लिये 'हिंदुस्तानी' का राग गाया जा रहा है। परंतु भयंकर अड़चन यह आ पड़ी है कि हिंदुस्तानियों की भाषा तथा लिपि है हिंदी—वह हिंदी जो सरा से यहाँ को राष्ट्र-भाषा तथा राष्ट्रलिपि रहा है और फलतः आज है भी। अब इसे ग्रहण कर इस्तयाजी लोग अपनी इस्तयाजी मत्ता को नष्ट कैसे करें! जोते जो जयो हांकर विजितां में कैसे मिलें? लिपि को लेकर फसाद खड़ा करना साफ हिनाका हांगो। मेल के लिये गुंजायश नहीं। रही जवान की बात। उसका लेकर तरह

तरह के खुगफात किए जा सकते हैं और किसी न किसी तरह उर्दू 'हिंदुस्तानी' के रूप में 'मुल्की ज़बान' कायम की जा सकती है।

यहाँ सवाल उठता है कि वह 'मुल्की ज़बान' कैद में किसकी रहे। जवाब निहायत आसान है। उन्हीं 'ख़ुशबयान' लोगों के हाथ में जो यहाँ की भाषा परंपरा से सर्वथा अनभिज्ञ हों और राष्ट्रभाषा 'हिंदी' को राजसों या जिन्नात की ज़बान समझते हों। बिहार की न्यायनिष्ठ काँग्रेसी सरकार ने एक ऐसे ही हक़परस्त के हाथ में हिंदुस्तानी डिक्शनरी का भार सौंप दिया है जो जन्म भर हिंदी को कोसते रहे हैं और उधर बुढ़ापे में कुछ दिनों से वह जौहर दिखा रहे हैं जिसकी खबर राष्ट्र के फरिश्तों तक को नहीं है। बेचारे करें क्या? राजनीति की कूट चालों को देखें या ज़बान के नित नए जज़ालों को?

खैर। अब हम अंत में केवल यही निवेदन कर देना चाहते हैं कि जो नागरी लिपि संसार की समस्त लिपियों में श्रेष्ठ है और जो बकौल मिर्जा इफ़ान अलीबेश उर्दू पढ़े लागां का 'सात ही दिन में आ जाती है' उसको अवहेलना कर कचहरियों में एक ऐसी लिपि को इज्जत देना जिसका लिखना पढ़ना सभी सभी दृष्टियों से कठिन और विद्याप्रचार के विचार से सबथा हानिकर है, किसी प्रकार भी अक्रमंदों का काम नहीं कहा जा सकता। जिस सरल राष्ट्रभाषा हिंदी का अधिकार मुमलमान बादशाहों और कंगनी सरकार ने भी स्वीकार कर उसे अपनी

कचहरियों और दफ्तरों में स्थान दिया था। उसको जगह एक विचित्र और अजनबी जवान को जो असल में कहीं की जवान ही नहीं है, जबर्दस्ती चलाए लाना निस्संदेह राष्ट्र की एकता तथा गरीब जनता के हित पर जान बूझ कर कुल्हाड़ा चलाना है। सरकार तथा देश के हितैषी नेताओं को यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए और स्वयं भ्रम में पड़ कर तथा जनता को भ्रम में डाल कर न्याय को सर्वदा के लिए बिदा नहीं कर देना चाहिए।
